वेश्या जीवन का मिथ और यथार्थ: संदर्भ सलाम आख़िरी

(एम. फिल.उपाधि हेतु लघु शोध-प्रबंध)

शोध-निर्देशक
डॉ. वीर भारत तलवार

शोधार्थी
संगीता वर्मा

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067
2005

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated : 18-07-2005

DECLARATION

I declare that the work done in this Thesis entitled "**VESHYA JEEVAN KA MITH AUR YATHARTHA: SANDARBH SALAAM AAKHIRI**" by me is an original research work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

संगीता वर्मा
SANGEETA VERMA
RESEARCH SCHOLAR

Vir Bharat Talwar
DR. VIR BHARAT TALWAR
SUPERVISOR
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

M. S. Husain
PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
CHAIRPERSON
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature
and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

विषयानुक्रमणिका

भूमिका	(i-iv)
अध्याय-एक इतिहास में वेश्याएं	1-37
अध्याय-दो हिन्दी साहित्य में वेश्याएं	38-67
अध्याय-तीन सलाम आख़िरी में वेश्या जीवन	68-99
उपसंहार	100-103
संदर्भ ग्रन्थ सूची	104-107

समर्पण

माँ और पिताजी के प्रति
जिन्होंने अपने प्रेम और समर्पण से
मुझे आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

भूमिका

यह बात बिल्कुल सत्य है कि नारी भारत में ही नहीं, किसी भी देश में, प्राचीनतम समाज को छोड़कर ऋग्वेद काल में भी स्वतंत्र नहीं रही। उसकी स्थिति हमेशा संकटपूर्ण रही। उसे धर्म के मठाधीशों तथा मंदिर के पुजारियों द्वारा घोर अपमान, तिरस्कार और वासना का शिकार बनाया गया। मंदिरों में देवताओं के आगे उसे नृत्यांगनाओं तथा वेश्याओं के रूप में नचाया गया और देवदासी के रूप में मंदिर में शोभित किया गया। देवदासी प्रथा विशुद्ध रूप से वेश्यावृत्ति ही थी।

'वेश्यावृत्ति' किसी स्त्री द्वारा अपनाए जाने वाले ऐसे व्यवसाय को कहते हैं, जिसमें वह कई पुरुषों के साथ बिना किसी भेदभाव या संवेदनात्मक लगाव के केवल रुपये-पैसे या धन के लिए यौन संबंध स्थापित करती है।

'वेश्यावृत्ति' इतिहास के हर काल-खण्ड में रही। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक इसका रूप तो बदला है परन्तु समस्या आज भी ज्यों की त्यों है, शायद इसलिए क्योंकि किसी ने जरूरत नहीं समझी इसके उन्मूलन की। वेश्यावृत्ति को बनाए रखने में हमारी सामाजिक संरचना भी जिम्मेदार है, जो स्त्री को भोग की वस्तु समझती है। वेश्यावृत्ति के पीछे एक लम्बा इतिहास रहा है। मनु के नियमानुसार पुरुष 'बीज' रूप है और नारी खेत। आज भी समाज के अधिकांश वर्ग का मानना है कि पुरुष जिस प्रकार अपनी भूमि पर अधिपत्य जमाता है, उसे उपजाऊ बनाता है, ठीक उसी प्रकार का संबंध नारी से भी है। नारी पर अत्याचार की कहानी काफी पुरानी है। नारी चाहे घर की हो या बाजार की प्रताड़ना उसी नियति रही है।

मेरा लघु शोध प्रबंध आधारित है वेश्या जीवन पर। इस विषय को चुनने के पीछे कारण था कि इनके जीवन से सम्बंधित बहुत से उपन्यास, कहानियां और नाटक लिखे गए यहां तक की समीक्षाएं भी आई पर कोई शोध अभी तक नहीं किया गया था, इसलिए मैंने शोध करने की पहल की।

अपने लघु शोध के रूप में मधुकांकरिया के द्वारा वेश्या जीवन पर लिखा उपन्यास 'सलाम आख़िरी' चुना। वैसे तो बहुत सारे उपन्यास, कहानी, नाटक आदि वेश्या समस्या को उठाते हैं परन्तु सलाम आख़िरी इस रूप में थोड़ा भिन्न है क्योंकि वेश्या जीवन को उठाने वाला किसी लेखिका द्वारा लिखा यह पहला उपन्यास है। एक स्त्री होने के कारण लेखिका ने वेश्याजीवन की त्रासदी कुण्ठा एवं पीड़ा को क़रीब से जाकर महसूस किया है और अपने उपन्यास का विषय बनाया है। संवेदनात्मक धरातल पर पाठक की चेतना को भीतर तक छू जाने की इस उपन्यास में भरपूर क्षमता है।

शोध के दौरान मैंने मात्र किताबों या पुस्तकों को ही आधार नहीं बनाया बल्कि उनके वास्तविक जीवन के सच को जानने के लिए बंद अंधेरी गलियों में भी गई। दिल्ली का श्रद्धानंद मार्ग जो आजकल जी. बी. रोड़ के नाम से जाना जाता है इसके अलावा इलाहाबाद का मीरगंज, जहाँ जाकर मैंने वेश्याओं से सीधे साक्षात्कार किया और अपनी वेश्याओं के बारे में बनी समझ की पुष्टि की।

इस शोध में मैंने वेश्या जीवन के मिथ और यथार्थ को कई स्तरों पर देखने और परखने का प्रयास किया है।

'वेश्या जीवन का मिथ और यथार्थ सन्दर्भ सलाम आखिरी' विषय पर शोध करते हुए मैंने इसे तीन अध्यायों में बांटा है।

पहला अध्याय–'इतिहास में वेश्याएं' सिन्धु सभ्यता से लेकर अब तक के वेश्यावृत्ति के रूप पर प्रकाश डालता है।इसमें यह दिखाने की कोशिश की गई है कि वेश्यावृत्ति इतिहास के हर कालखण्ड में रही, बस नाम और रूप बदलते रहे। वेश्यावृत्ति के साथ-साथ देवदासी प्रथा की चर्चा भी है क्योंकि देवदासी प्रथा विशुद्ध रूप से वेश्यावृत्ति ही है। वेश्यावृत्ति और देवदासी से सम्बन्धित परिभाषाओं और नामों पर भी प्रकाश डाला है तथा दोनों के लिए ही बनाये गए कानून, अधिनियम और आंदोलनों की भी चर्चा है।

दूसरा अध्याय–हिन्दी साहित्य में वेश्याएं–हिंदी में वेश्यावृत्ति या वेश्याओं की समस्या से टकराने या उनकी चर्चा करने वाली रचनाओं के बारे में बतलाया गया है। इस अध्याय में 1899 में लिखी किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यास 'कुसुमकुमारी' से लेकर सन् 2005 में लिखे उपन्यास 'क्या मुझे खरीदोगे?', 'आज बाजार बंद है' तक की चर्चा है। साथ ही कुछ कहानियों की भी चर्चा है जो वेश्या जीवन से सम्बद्ध हैं। हिन्दी में वेश्या जीवन पर तो बहुत कुछ लिखा गया है, जिनमें कुछ रचनाएं वेश्या जीवन को हल्का छूकर निकल जाती हैं तो कुछ उनकी गहराई में जाकर समस्या से टकराती और समस्या को जन्म देने

वालों से सीधा लोहा लेती है। इस प्रकार की रचनाओं में आज 'आज बाजार बंद है', 'सलाम आख़िरी', 'मुर्दाघर' प्रमुख हैं।

तीसरा अध्याय—मूलतः 'सलाम आख़िरी' पर आधारित है। इसमें वेश्या जीवन के अच्छे-बुरे सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है और कलकत्ता जैसे शहर में वेश्या जीवन से संबंधित बटोरे गए अनुभवों का दस्तावेज है, जिसे उन्होंने डरते-डराते उपन्यास के सामने लोगों के रूप में रखा है। लेखिका ने उपन्यास को समर्पित किया है, 'पुरुषों के लिए' क्योंकि यह लताड़ उन पुरुषों के लिए है जो स्त्री को उपभोग की वस्तु मानते हैं। कठोर से कठोर व्यक्ति भी उपन्यास को पढ़ने के बाद वेश्याओं के प्रति संवेदनशील हो जाएगा। लेखिका ने वेश्याओं की अंधेरी गलियों में घूटती जिन्दगी की चर्चा की है जो अन्य उपन्यासों में आसानी से नहीं दिखाई देती। कोई औरत किन परिस्थितियों में वेश्या बनती है, इसे लेखिका ने सीधे-सीधे तौर पर मीना, नूरी चम्पा, जूली, गायत्री आदि पात्रों के माध्यम से दिखाया है।

अंत में 'उपसंहार' में पूरे शोध से जो बातें निकल कर सामने आई हैं उसकी चर्चा है।

मैं कुछ खास लोगों के प्रति आभार और धन्यवाद ज्ञापन करना चाहती हूँ जिनके बगैर इस लघु शोध को पूरा कर पाना मेरे लिए मुश्किल होता, उन सभी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने में शब्द छोटे पड़ते नज़र आते हैं।

सबसे पहले मैं अपने शोध निर्देशक डॉ. वीर भारत तलवार के प्रति विशेष रूप से निष्ठा एवं सम्मान के साथ कृतज्ञता और आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने वेश्या जीवन जैसे 'वर्जित' और चुनौती पूर्ण विषय को चुनने की मुझे अनुमति और शोध के दौरान शुरू से ही विषय की गहराई में प्रवेश करने तथा लगन एवं अनुशासन से काम करने की प्रेरणा दी।

मेरे माता-पिता, दीदी किरन एवं जीजाजी, बहन शशी, बबिता, मीनू और भाई प्रदीप एवं संदीप तथा भानजे आशीष और भानजी तनू जिनके होने से मैंने अपने होने का मतलब जाना। साथ ही उनके समर्पण और प्रेम से मैं अपने लघु शोध को पूरा कर सकी।

'पत्रकार' मोहन दास नैमिशराय के प्रति आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने शुरू से अन्त तक शोध के दौरान अपना सहयोग दिया और सामग्री संकलन में मेरी सहायता की।

वेश्या जीवन जैसे वर्जित विषय पर शोध करने में मेरा उत्साहवर्धन करने वालों में मेरे मित्र संदीप, नरेन्द्र सिंह, कवितेन्द्र 'इन्दु', कृपा शंकर यादव, मनोज दीक्षित, गंगा सहाय मीना, अविनाश, श्वेता वर्मा, सिम्पी सिन्हा, अनुजा, किंगसन सिंह पटेल, उर्वशी गहलौत आदि सभी के प्रति कृतज्ञ हूँ।

शुचिता दीदी, कमलेश भइया, बालेन्द्र सर, विमल सर, दर्शन सर आदि की मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने शोध कार्य में मेरी मदद की और अपना अमूल्य समय दिया।

जया दीदी जिन्होंने टंकण करके अपना अमूल्य सहयोग देकर मेरा शोध कार्य पूरा किया।।

शोध से सम्बंधित सामग्री—

लघु शोध-प्रबन्ध लिखने के क्रम में मुझे जवाहर लाल विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से जो निराशा मिली उसके लिए किसके प्रति खेद प्रकट करूं: समझ नहीं आता?

साहित्य अकादमी लाइब्रेरी और सेन्टर फॉर वीमैन डेवलेपमेंट स्टडीज, दिल्ली, जहाँ से समय-समय पर शोध संबंधी सामग्री उपलब्ध हुई, के प्रति आभार प्रकट करना चाहती हूँ।

संगीता वर्मा

अध्याय-एक

इतिहास में वेश्याएं

वेश्या जीवन के इतिहास का विवेचन करने से पहले यदि 'वेश्यावृत्ति' या 'वेश्याओं' से सम्बंधित शब्दावली पर एक नजर डाल ली जाए तो बेहतर होगा,जिससे हमें इनके इतिहास को समझने में ज्यादा आसानी होगी।

'गणिका संस्था' का विकास सामाजिक अव्यवस्था एवम् दूषित परिस्थितियों का सूचक होने पर भी इसका हर प्रकार से महत्व रहा। यहां तक कि इसके विस्तार के लिए अनुकूल परिस्थितियां तक तैयार की गई।

''समय-समय पर कानून की दृष्टि में गणिकाओं का स्थान, उनके संबंध में प्रचलित कहावतें एवम् साहित्य में उनके चित्रण का अध्ययन भी कई दृष्टियों से सहायक सिद्ध होता है। एक विद्वान ने तो गिनती करके यहाँ तक बताया है कि संस्कृत में गणिका के लिए 235 पर्यायवाची शब्द उपलब्ध है, और उन पर सुभाषित तो इतने अधिक मिलते हैं कि उनके सहारे अनेक 'गणिकाशतको' का संकलन किया जा सकता है।

डा. ल्युडविंग का कहना है कि गणिका के लिए जितने पर्यायवाची शब्द और सुभाषित संस्कृत में हैं उतने संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं।

इन शब्दों के व्यंग्यार्थ और व्युत्पत्ति में शताब्दियों का सामाजिक इतिहास समाया हुआ है। सामान्य व्यवहार में गणिका, वेश्या, पातुरिया, रामजनी, नायका, वारांगना, तवायफ़, कसबिन, रण्डी इत्यादि शब्द ही अधिक प्रचलित हैं।

'वेश्या'शब्द व्यापार या विक्रय सूचक है वेश्यालयों को संस्कृत में 'वेश' कहा जाता है और उनमें निवास करने वाली स्त्रियों को वेश्या। इस शब्द द्वारा धन के बदले देह विक्रय का भाव स्पष्ट रूप से ध्वनित होता है। कला से विशेष सम्बन्ध न रखने वाली पण्यांगनाओं के लिए यही शब्द सबसे अधिक रूढ़ है। उत्तर भारत में 'पतुरिया' या 'पातुर' शब्द भी वेश्या के अर्थ में प्रयुक्त होता है,जो नाटकों में नृत्याभिनय करने वाली नटियों के लिए प्रयुक्त पात्र शब्द का अपभ्रंश मालूम होता है। पश्चिमी भारत में 'रामजनी' शब्द काफी प्रचलित है,जिसके कुल गोत्र, माता-पिता या जन्म के संबंध में निश्चित जानकारी न हो ऐसी स्त्री को 'रामजनी' घोषित कर देने की प्रवृत्ति इसी भावना से उत्पन्न हुई।''[1]

'वारांगना' शब्द की व्युत्पत्ति बिल्कुल स्पष्ट है। विभिन्न प्रेमियों को अलग-अलग दिन या बारी-बारी से उपलब्ध होने वाली पण्य स्त्री के लिए वारांगना, वानवनिता, वरवधू शब्द का प्रयोग होता है।

'तवायफ़' शब्द 'गणिका' की तरह सामूहिक उपभोग की व्यंजना करता है। अरबी भाषा का यह शब्द इस्लामी संस्कृति के साथ इस देश में आया और प्रचलित हो गया। वैसे यह 'तायफ़ा' का बहुवचन है, पर हिन्दी और अन्य भाषाओं में एकवचन के रूप में प्रयुक्त होता है। 'कसबिन' शब्द भी अरबी से आया और स्पष्टतः व्यवसाय सूचक है। 'कसब' का अर्थ पेशा या व्यवसाय होता है।

अंतिम शब्द 'रण्डी' शिष्ट सम्मत न होने पर भी उत्तर भारत में प्रचलित है। इसका सम्बंध स्पष्ट रूप से संस्कृत के रण्डा (विधवा) के साथ है। मजाक या तिरस्कार में जिस प्रकार गणिका को 'सदासुहागिन' कहा जाता है, उसी प्रकार किसी भी पुरुष की पत्नी न होने के कारण उसे चिर विधवा करार देकर उसका तिरस्कार भी लोकप्रिय होकर लोकसम्मत हो सकता है।[2]

इसके अलावा प्राचीन युग की अनेक सामाजिक प्रथाओं को सुरक्षित रखने वाली और भी संज्ञाएँ गणिका के लिए प्रयुक्त होती रही हैं।

'नृत्य नाटक और रंगभूमि के साथ गणिकाओं का सम्बंध अत्यंत प्राचीन काल से रहा है। प्राचीन भारतीय साहित्य में गणिका के लिए 'नटी' शब्द का प्रयोग प्रचुरता से पाया जाता है। 'रंगोपजीवा' नाम तो स्पष्ट रूप से रंगभूमि द्वारा उपजीविका चलाने वाली स्त्री का अर्थबोध कराता है। 'वासिका' शब्द उसके वस्त्राभूषणों की चमक-दमक व्यंजित करता है और 'मुक्ता' संज्ञा उसकी बंधनहीनता का परिचय देती है। इसी प्रकार 'प्रकाश विनष्टा' उसकी लज्जाहीनता पर बल देता है।'[3]

समाज एक ओर 'गणिका' को त्याज्य बहिष्कृत और पतित मानता है तो दूसरी ओर उसके नगर शृंगार और नगर शोभा होने की घोषणा करता है। वास्तव में वे समाज की गंदगी हैं या समाज का एक महत्वपूर्ण अंग ये सोचने वाले पर निर्भर करता है।

'प्राचीन युग के समाज की दृष्टि गणिका की ओर पूर्वाग्रह ग्रसित नहीं थी अतः उनके लोकरंजक और नगर शृंगार रूप को भी मान्यता मिलती रही, जो उसके 'नगरमंडना', 'नगरभूषणी' 'नगरविभूषणा' 'नगरवधू' आदि अभिधानों द्वारा व्यक्त होती है।'[4]

इसे प्रकार एक लम्बी शब्दावली गणिकावृत्ति की व्यापकता और महत्ता एवं उसके सामाजिक

स्वीकार एवम् तिरस्कार की विभिन्न भूमिकाओं के दर्शन कराती है।

'गणिका' के साथ ही साथ यदि गणिकासंस्था संबंधी शब्दावली देख ली जाए तो अच्छा होगा।

'वेश्यागृह की सूचना देने वाले संस्कृत शब्दों में गणिका संस्था के विभिन्न अंगों का समावेश हो जाता है, पर अंग्रेजी के 'Brothel' शब्द में तिरस्कार की जो व्यंञ्जना है वह संस्कृत के शब्दों में नहीं पाई जाती। 'वेश्यालय' को प्रायः 'वेश' कहा जाता था और गणिका की सहायता के लिए गणिकालय में रहने वाले विभिन्न लोगों का समावेश 'गणिकाकुटुंब' के अन्तर्गत होता था। 'गणिकालय' के लिए प्रयुक्त रतिगृह, रतिभवन, लीलागृह, लीलागेह, विलासभवन, विलासमंदिर, इत्यादि शब्द रसिकता की विभिन्न श्रेणियों के सूचक थे। वेश्याओं के मुहल्लों को 'वेश्याजनसमाश्रय' या 'वेश्यावीथि' कहा जाता था।'[5]

संगीत और नृत्य में रुचि रखने वाली एवं इनको अपनी रोजी-रोटी से जोड़ने वाली महिलाएं इस देश में सदियों से रही हैं। उसी प्रकार से इस परम्परा को पालने वाले भी। समय बदलने के साथ-साथ इसकी परिभाषाएँ और रूप बदलते गये, साथ ही सामाजिक मान्यताएं भी। एक समय ऐसा था जब की समाज में तवायफ़ों की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण थी। लेकिन आजकल तवायफ़ को वासना तृप्ति का साधन मात्र ही माना जाता है, यानी हर व्यक्ति केवल अपनी जिस्मानी भूख के वशीभूत होकर इनके दरवाजे तक आता है और इसी प्रकार इनके दरवाजे भी हर एक के लिए खुले हैं।

भारत में वेश्यावृत्ति का व्यवसाय उतना ही पुराना है जितना कि अन्य देशों में। इस व्यवसाय की उत्पत्ति रहस्य से घिरी हुई है। देखा जाए तो हर काल में इनका कोई न कोई रूप समाज में मिलता है चाहे वह सिन्धु संस्कृति हो या महाभारत कालीन, रामायण कालीन संस्कृति हो या गुप्तकालीन संस्कृति ~~जातक कथाएं~~, वेश्याओं का वर्णन हर कहीं मिलता है।

'वेश्यावृत्ति विश्व के सबसे प्राचीन या पुराने व्यवसाय के रूप में जानी जाती है। इतिहास बताता है कि वेश्याओं द्वारा शारीरिक सेवा पहले उच्च वर्ग के लिए थी यानी उनका उपभोग राजा, मंत्री या उसके समकक्ष लोग ही कर सकते थे।'[6]

'प्राचीन काल में उनका एक रूप पूरी तरह से धर्म से सम्बंधित था जैसा कि बेबीलोनिया एवं मिश्र में भी था। ऐसा विश्वास था कि पुजारी के साथ शारीरिक भोग ईश्वर के साथ उनके सबंधों में नजदीकी लाएगा। उस समाज में रखैल बनाने की प्रथा थी पर उन्हें बच्चा पैदा करने और पत्नी

बनने का अधिकार नहीं प्राप्त था। यह अधिकार केवल उस स्त्री को प्राप्त था जिसे विवाह संस्कार द्वारा मान्यता मिली है, और इसी कारण से उसे सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त थी। 'रखैल' को विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करने पड़ते थे एवं उन्हें अपने बालों को हल्के या लाल रंग से रंगना होता था, जिससे आसानी से उनकी पहचान हो सके।"[7]

1955 में 'सोशल वेलफेयर' में प्रकाशित अपने एक लेख में आर॰ जयकर लिखते हैं कि—'इस प्रथा का उदय रहस्य के गर्भ में छिपा हुआ है। इस समस्या के विशेषज्ञ इसका सम्बन्ध धार्मिक प्रथाओं से जोड़ते हैं, जो कि प्रारम्भ में एक व्यवहार के रूप में विद्यमान थी। इसके साथ जुड़ी लज्जा ने इसे कुछ समय तक अनुज्ञा के रूप में विकृत होने से बचाए रखा, परन्तु परिस्थितियों के झंझावतों ने इसे धन कमाने का एक साधन बना दिया। प्राचीन काल में भी सरकार/राज्य ने विधान बनाकर या जनमत के माध्यम से इस प्रथा को विकसित न होने देने के प्रयास किये थे, परन्तु उसका बहुत कम असर पड़ा। शहरों में वेश्याओं की अलग बस्तियाँ थीं तथा उनकी एक सूची राज्य सरकार के पास होती थी। कौटिल्य ने तो नगरवधू अथवा वेश्याओं को नियंत्रित करने के लिए नियम बनाए थे। महाभारत और जातक कथाओं में भी वेश्याओं का उल्लेख मिलता है। मनु, गौतम और बृहस्पति जैसे शास्त्रकारों ने वेश्यावृत्ति की रोकथाम की सिफारिश की है। मुस्लिम काल में भी वेश्यावृत्ति की प्रथा बहुतायत में प्रचलित थी। अनेक मुस्लिम बादशाहों के अपने हरम थे।"[8]

सिन्धु घाटी की संस्कृति जिसे हम अपनी सबसे प्राचीन संस्कृति के रूप में देखते और समझते हैं, यहाँ भी हमें गणिकाओं से सम्बंधित अवशेष मिलते हैं। अनेक देवी-देवताओं की इतनी विविध प्रतिमाएं और नित्योपयोगी वस्तुओं के इतने विविध अवशेष इन स्थानों से प्राप्त हुए हैं कि इस संस्कृति के धार्मिक विश्वासों और सामाजिक रिवाजों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे अत्यंत जटिल और उलझे हुए रहे होंगे। धार्मिक विश्वासों की जटिलता और नागर संस्कृति की प्रधानता के सहारे यह अनुमान लगाना गलत नहीं होगा कि इस संस्कृति में गणिकावृत्ति या गणिकासंस्था का किसी न किसी रूप में अस्तित्व अवश्य रहा होगा।

मोहन जोदड़ो से प्राप्त एक नर्तकी की प्रतिमा और हड़प्पा से प्राप्त एक नर्तक की मूर्ति नृत्य के अस्तित्व की निश्चित रूप से स्थापना करती हैं। पुरातत्व के अधिकांश विद्वानों की राय है कि मानव-संस्कृति के विकास की सबसे पहली अभिव्यक्ति नृत्य द्वारा ही होती थी।

अगर ध्यान से देखा जाए तो हम पाएंगे कि वेश्यावृत्ति का उल्लेख हमें सिन्धु सभ्यता के बाद आर्य संस्कृति में मिलता है। इसकी चर्चा धर्मशास्त्रों, संस्कृत महाकाव्यों और उपदेश कथाओं के लिखित प्रमाण के स्रोत में मिलती है। ये अलग बात है कि वहाँ वेश्या, 'वेश्या' न होकर रखैल एवं दासी के रूप में मिलती है,जिसे खरीदा और बेचा जाता था।

'भारत में पहुँचने पर आर्यों ने अपने शत्रुओं (दास दासियों) जो अपने लौह-दुर्गों में भली भाँति रक्षित थे—युद्ध किया। भिन्न भाषाई शत्रुओं के प्रति भी इनके मन में घृणा थी। आर्यों की विजय ने विजेताओं को पराजित लोगों की नारियों को रखैल के रूप में रखने और कभी-कभी गुलाम बनाने का अधिकार दिया।'[9] और यहीं से शुरू हो गई रखैल बनाने की प्रथा। गुलाम स्त्रियों को अपने स्वामी की सभी इच्छाओं की पूर्ति करनी होती थी परन्तु उसे पत्नी का दर्जा नहीं दिया जाता था। वह आजीवन एक ही व्यक्ति के पास न रहकर, अपने जीवन में कई व्यक्तियों की रखैल हुआ करती थी और यहां तक कि उसकी खरीद और बिक्री भी होती थी।

इसके अलावा बौद्ध काल में भी ऐसी स्त्रियों के बारे में जानकारी मिलती हैं –

'कम्बोडिया के बौद्ध विहारों तथा हिंदू मंदिरों में भी दास एवं दासियाँ होती थी। मंदिर की आर्थिक व्यवस्था का मूल आधार दास वर्ग का श्रम था,जिसके बदले इन्हें पारिश्रमिक दिया जाता था। मंदिरों की जमीन की खेती यही दास-दासी करते थे और इन्हें उपज की निर्धारित राशि का कुछ भाग खास अवसरों पर दे दिया जाता था। शासकों के पास भी दासियाँ यदा-कदा रखैलों के रूप में देखी जाती हैं।'[10]

कोई भी काल हो चाहे वैदिक काल , महाभारत काल या रामायण।हर युग के समाज में वेश्याओं का होना पाया गया क्योंकि इन्हें आरम्भ से ही समाज के अंग के रूप में मान्यता मिली।

'ऐसे ही महाभारत काल में 'बंधकी' की चर्चा की गई है, जिसका दर्जा दासी के समान की होता था। एक श्लोक के अनुसार वह नारी जो अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के संसर्ग से बालक को जन्म देती है, वह 'बंधकी' होती है।

थोड़ा और आगे बढ़े तो हम पाते हैं कि कौटिल्य के समय में ऐसी स्त्रियों को प्रचलन खूब रहा और वे बंधकी नारियों से होने वाली आय से जीने वाले लोगों की आय पर दस प्रतिशत कर विधान करते हैं। टी. गणपति शास्त्री का कथन है कि 'बंधकी' ऊंचे कुल की वह नारी है जो वेश्या की भांति

रहती है।[11]

देवदासी प्रथा जिसे हम आधुनिक काल में जानते हैं यह भी वेश्यावृत्ति के साथ नहीं तो आगे-पीछे ही शुरू हुई।

कुंआरी कन्याओं को किसी मंदिर के देवता को भेंट करने की प्रथा भारत में सुविख्यात थी। हालांकि त्रिपिटक में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

'पद्मपुराण' के सृष्टि खण्ड तथा 'भविष्यपुराण' के कुछ श्लोकों में देवदासी तथा देवदासियों के समूह का दान करने का आदेश दिया गया है। जैसा कि विदित है कि यह प्रथा मध्यकालीन भारत में खूब पनपी और बीसवीं सदी के चौथे दशक तक खूब फली-फूली। अरब के दो मुसलमान यात्री जो 1351 ई. में भारत आए देव दासियों के संबंध में वक्तव्य देते हैं–

भारत में ऐसी गणिकाएं होती हैं, जिन्हें मूर्ति की स्त्रियाँ (देवदासियाँ) कहा जाता है। जब किसी नारी को सन्तान प्राप्ति की इच्छा होती है और यदि वह सुंदर लड़की को जन्म दे तो वह उसे उठाकर बुत के पास ले जाती है और उसे वहीं छोड़ आती है। जब वह लड़की बड़ी हो जाती है, तब वह इस सार्वजनिक स्थान में एक कमरा ले लेती है और घर के दरवाजे पर पर्दा डालकर उस रास्ते से गुजरने वालों की प्रतीक्षा में बैठी रहती है। भले ही वे राहगीर भारतीय हों या अन्य मत के अनुयायी, वह अपने को एक निश्चित मूल्य पर समर्पित कर देती है। और इस प्रकार इकट्ठा किया हुआ सारा धन वह मूर्ति के पुजारी के हाथ पर रख देती है, जिससे वह धन मंदिर के निर्माण और रख-रखाव के काम आ सके।'[12]

यह विचित्र बात है कि कालान्तर में मुस्लिम धर्म के कुछ मतानुयायियों ने भी अपने देव स्थानों को लड़कियां अर्पित करना आरंभ कर दिया। उन्हें लखनऊ में 'अछूतियाँ' कहा जाता था। आज उनका एक मात्र स्मारक उस नगर की 'अछूती गली' रह गई है।

'जातकों में भी 'कुंभदासी' का वर्णन मिलता है, जिन्हें अपने मालिकों के लिए 'पानी भरकर लाना' पड़ता था। 'गणिका' और 'कुंभदासी' उस समय 'वेश्या' के पर्याय माने जाते थे।

कौटिल्य के समय में तो वेश्याओं को सम्मान प्राप्त था और उन्हें राज्य की आय के महत्वपूर्ण साधन के रूप में देखा जाता था। यहां तक कि उन्हें बकायदा नृत्य एवं गायन की भी शिक्षा दी जाती थी।

"उस वेश्या दासी को जो अब भोग योग्य नहीं रही कोष्ठागार अथवा रसोई में काम करना चाहिए...। वेश्या दासी को विविध कलाओं की शिक्षा देने वाले लोगों को राजा की ओर से वृत्ति दी जाती थी एवं सेवानिवृत्त देवदासियों से सूत कातने का काम लिया जाता था।"[13]

कानूनी दृष्टि से दासों को अन्य स्थानों की भांति यहां भी स्वामी की सम्पत्ति समझा जाता था। दासियों को रखैल के रूप में रखा जाता था तथा उन्हें व उनकी संतान को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं था। कुछ स्थानों पर तो दासी व उनकी संतानों की उपस्थिति को अपवित्र मान लिया जाता था। वैदिक काल में तो स्वामी दासियों को रखैल के रूप में रखता था लेकिन ऐसे मेल से जन्में संतान के भाग्य में दासता ही बदी होती थी और वे आजीवन स्वामी की संपत्ति के अंग समझे जाते रहे।

धर्मसूत्रों में अधिकांश स्थानों पर क्रीत स्त्रियों का उल्लेख आया है, जो वेश्या होती थी। पैसे से खरीदी स्त्री को पत्नी नहीं समझा जाता था और देवों या पितरों के लिए यज्ञों में भाग लेने का उसे अधिकार नहीं होता था।

वेदकालीन विवाह संस्था का आभास और कुछ शताब्दियों तक चलने वाले उसके प्रभाव की झलक हमें महाभारत की आरंभिक कथाओं में अधिक स्पष्ट रूप में मिलता है।

प्राचीन काल में स्त्रियों को घर की चारदीवारी में बंद नहीं रखा जाता था। उस युग की स्वतंत्र स्त्रियां अपनी इच्छानुसार विचरण करती थी, और मनमाना देहभोग करती थीं।वे विवाह से पहले भी यथेच्छ संभोगसुख का अनुभव करती थी और विवाह के बाद पति के प्रति एकनिष्ठ रहने का आचार भी उस युग में प्रचलित नहीं था। अनेक पुरुषों के साथ संभोग करना उस युग में अधर्म का लक्षण नहीं बल्कि सामान्य लोकव्यवहार माना जाता था। स्त्री-पुरुष के समागम पर किसी प्रकार का बंधन नहीं होना चाहिए, ऐसी उस युग की सर्वसम्मत मान्यता थी। ऐसा आदिम युग में होता था जिसका प्रभाव बाद तक बना रहा।

महाभारत के आदि पर्व में पाण्डु अपनी पत्नी कुंती को सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रेरित करने के लिए 'नियोग प्रथा'का उल्लेख करते हैं।

शाप के कारण या शारीरिक निर्बलता के कारण पाण्डु में सन्तानोत्पत्ति की क्षमता नहीं थी। आर्य संस्कृति में प्रजा वृद्धि की भावना आरंभ से ही महत्वपूर्ण रही है। उसमें भी पुत्र जन्म को इहलोक और परलोक दोनों दृष्टि से अत्यधिक महत्व दिया जाता था। हिंदू संस्कारों में आज भी पुत्रजन्म का

महत्व रत्तीभर भी कम नहीं हुआ है।

सन्तान प्राप्ति और विशेष रूप से पुत्र प्राप्ति का महत्व उन दिनों इतना अधिक था कि शास्त्रों ने 'नियोग' द्वारा पुत्र प्राप्ति की अनुमति दी थी और उसका प्रचलन भी प्रचुर मात्रा में था। पांचों पाण्डव, पाण्डु खुद, उनके भाई धृतराष्ट्र और ख्यातनाम विदुर का जन्म 'नियोग प्रथा' द्वारा ही हुआ था।सन्तान की कामना से और पति की अनुमति से, किसी उच्च श्रेणी के महापुरुष द्वारा पत्नी का गर्भाधान कराने की प्रभा को 'नियोग' कहा जाता था। इस व्यवहार के पीछे एकमात्र उद्देश्य संतान प्राप्ति का ही होता था।[14]

'दक्षस्य हि सुता श्रेष्ठा वभूक्ष षष्ठिः षष्ठिः शोभनः

अदिति दिनुष्वचैव विनाताधास्त येव।।

उधृत श्लोक से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में राजा,महराजा गण ऋषियों को राजमहल की राजकुमारियाँ समर्पित करते थे। देवदासी प्रथा संभवतः इसी वैदिक प्रथा का बिगड़ा हुआ रूप है। जिसे हम 'नियोग प्रथा' के रूप में जानते हैं।

महर्षि दयानंद ने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में नियोगप्रथा के बारे में लिखा है। 'नियोग प्रथा' के अनुसार जो राजा या कुलीन व्यक्ति अपनी पत्नी से बच्चा पैदा करने में समर्थ न हो, तो वह अपनी पत्नी को ऋषि के सान्निध्य में छोड़कर उनसे बच्चा पैदा करवा सकता था। इस प्रकार से ऋषि गण उस समय बच्चे पैदा करने का काम भी किया करते थे।[15] देखा जाए तो महर्षि वात्स्यायन ने अपनी विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'कामसूत्र' वेश्यालय में रहकर ही लिखी क्योंकि उस समय वेश्याएं या गणिका ही काम कला की विशेषज्ञ मानी जाती रहीं। उन्हें 64 कलाओं का मर्मज्ञ माना जाता था, जिसके वशीभूत होकर पुरुष उनके पास आता है। उन्होंने अपनी पुस्तक में कुम्भदासी,परिचारिका, कुल्टा, स्वैरिणी, नटी, शिल्पकारिका, प्रकाशविनष्टा रूपाजीवा, गणिका आदि नौ प्रकार की वेश्याओं का वर्णन किया है। वात्स्यायन ने 1500 वर्ष पूर्व गुप्त काल में इस ग्रन्थ की रचना की। वात्स्यायन ने स्त्री के जिन हाव-भावों का वर्णन लेखनी द्वारा किया, उन्हीं हाव-भावों को मूर्तिकारों ने पाषाणों पर मुखरित कर दिखाया। अजन्ता एवं एलोरा की गुफाएं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

बौद्ध धर्म में 'अर्धकाशी' नामक एक वेश्या की चर्चा की जाती है। अर्धकाशी वाराणसी के एक प्रसिद्ध व्यापारी की पुत्री थी।पिता ने उसे खूब पढ़ा-लिखाकर, नृत्य संगीत में पारंगत किया। धन की

तो उसे आवश्यकता थी नहीं, और वैवाहिक जीवन उसे रूचिकर नहीं हुआ। अंत में उसने गणिकावृत्ति को अपना लिया।

रूप, गुण और योग्यता में वह इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसने अपने देह उपभोग का एक रात का मूल्य काशीराज की एक दिन की आय के बराबर रखा। इतनी भारी कीमत देकर उसके यहाँ शायद ही कोई जा पाता था। इसलिए उसने अपना मूल्य घटाकर आधा कर दिया और तभी से वह 'अर्धकाशी' कहलाने लगी। बाद में किसी कारणवश उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और प्रसिद्ध भिक्षुणी बन गई।

कुरुधम्स जातक के अनुसार पंचशील अपनाने के बाद वेश्यावृत्ति से मुक्ति मिल जाती थी। यह भगवान बुद्ध की संत परम्परा की तज़बीज थी। इसके विपरीत कौटिल्य का अर्थशास्त्र जो जातक युग के ठीक बाद लिखा गया था, उसमें राजा के शासनकाल में वेश्या को भी स्थान दिया क्योंकि वे ही राज्य की 'गुप्त रिपोर्टर' हुआ करती थीं। उनके द्वारा राज्य के कार्यों में योगदान देने पर भी समाज में उनका सम्मानजनक स्थान नहीं था। कहा जाता था कि उन्होंने मनुष्य की प्राकृतिक इच्छाओं (Natural Desire) को अपना व्यवसाय बना लिया है, जिसके कारण समाज अधोगामी बनता है। भर्तृहरि के 'वैराग्य शतक' और 'शृंगार शतक' को पढ़ने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि वेश्या समाज की सबसे गर्हित प्राणी है क्योंकि इसमें वेश्या को निम्न श्रेणी का माना गया है और उसकी तुलना कुत्ते से की है।

"जो वेश्याओं के अधरों का चुम्बन करता हैं वह पीकदान में मुँह डालता है और वेश्या उस कुतिया के समान है, जिसके पीछे कुत्तों का झुण्ड चलता है।"[16]

उस समय क्या सोचकर ऐसा लिखा गया पता नहीं पर जो भी लिखा गया बिल्कुल गलत है क्योंकि वेश्यावृत्ति में सारा दोष उस स्त्री का ही नहीं होता बल्कि वह पुरुष भी उतना ही दोषी है जो वेश्यागामी होता है।

भारत में स्त्री के अस्तित्व व उसके सम्मान को लेकर यह बार-बार प्रचारित किया जाता है कि जहाँ स्त्री की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं अर्थात् स्त्री देवी है तो पुरुष देवता। पुरुष की इस सुविधाभोगी प्रवृत्ति ने ही अपने स्वच्छंद उपभोग के लिए स्त्री को वेश्यावृत्ति की ओर धकेला और उसे 'गणिका' जैसा सम्माननीय नाम भी दिया। दरअसल यह चुनाव भी ऐसे वर्ग की ओर से था जो धन और बाहुबल से मजबूत था, जिसका शगल रहा तरह-तरह की स्त्रियों के साथ रमण करना,

जिसके एवज में उन्हें रखैल का दर्जा दिया जाता और धन सम्पत्ति का छोटा टुकड़ा देकर अलग रखा जाता था।

इनके अलग उपनिवेश बना दिये गए ताकि शक्तिशाली वर्ग निर्बाध इनका शोषण करता रहे। समाज की अव्यवस्था के रहते पुरुष ने जैसा चाहा स्त्री को नचाया कभी कोठे में तो कभी मंदिरों में। एक ओर पुरुष ने इन्हें देवी बनाया तो दूसरी ओर वेश्या का दर्जा भी दिया। अर्थात् पुरुष ने स्त्री का शोषण नाना रूपों में किया परन्तु वेश्या, गणिका या देवदासी बना दिया जाना सबसे अधिक घृणास्पद रहा।

संस्कृत साहित्य में वेश्या को सम्मान तो प्राप्त है लेकिन वहां भी कामोपासना और सौंदर्यापासना का भाव ही अधिक है।

विश्व साहित्य में तो गणिका या वेश्या का उल्लेख तो करीब-करीब तभी से मिलने लगता है, जब से लिपिबद्ध साहित्य प्रचलन में आया। लेकिन गणिका कथा साहित्य में पात्र के रूप में काफी बाद में आती दिखाई देती है।

एक चिंतक ने कहा है कि यदि हम वेश्यावृत्ति के इतिहास को देख डालें तो मानवीय सभ्यता का इतिहास हमारे सामने आ जाएगा। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है पर पूर्णतया ग़लत नहीं। सभ्यता का इतिहास बहुत कुछ मानवीय संबंधों पर आधारित होता है। इन संबंधों में भी विशेष रूप से स्त्री-पुरुष संबंधों पर।

यह देखकर ताज्जुब होगा कि वेश्या के प्रति समाज का रूख चार हजार सालों के इतिहास में करीब-करीब एक जैसा ही रहा। इसके साथ ही औरत को वेश्यावृत्ति में प्रवृत्त करने वाले कारण भी परन्तु अब जरूर कुछ नए कारण इसमें जुड़ गए हैं।

वेदों में भी वेश्याओं का ज़िक्र आया है और उसे देखकर लगता है कि वेश्याओं की अलग-अलग श्रेणियाँ थीं और उन श्रेणियों के अनुसार ही उनके नाम थे। गणिका, वारस्त्री, वारांगना, कुंभा, रूपजीवा, कामरेखा, भोग्या, कुल्टा आदि। नाम के अनुसार इनके कार्य भी अलग-अलग थे, पर मूल कार्य इनका एक ही था।

धार्मिक कार्यों, दैवी शक्तियों की प्रसन्नता तथा राष्ट्रहित के कार्यों के लिए औरतों द्वारा वेश्यावृत्ति करवाया जाना उस जमाने में गौरव की बात मानी जाती थी।

जहाँ तक 'पुजारिन वेश्या' का संबंध है, यह प्रथा कब और कहाँ शुरू हुई इसके बारे में सही जानकारी नहीं मिलती, पर इतना जरूर तय है कि आज भी पुजारिन वेश्या किसी न किसी रूप में मौजूद है। देवदासी प्रथा इसी का आधुनिक एवं ज्वलंत रूप है। देवदासी प्रथा ने वेश्यावृत्ति में इजाफा किया इसीलिए जहाँ-जहाँ भी देवदासी प्रथा या पुजारिन वेश्या रही वहाँ वेश्यावृत्ति खूब फली-फूली क्योंकि देवदासी मंदिर से विराम लेने के बाद वेश्यावृत्ति करके ही अपना भरण-पोषण करती थी। वैदिक काल में ही धर्म एवं राज्य द्वारा गणिकावृत्ति को स्वीकृति मिली। राज्य की देखरेख में ही वे पनपीं। उस युग की सुसंस्कृत एवं कला की आराधक गणिकाएं यूनान की गणिकाओं की जोड़ी की थी।

दरअसल भावना प्रधान हमारे इस देश में काम जीवन सदैव अमर्यादित रहा है, इसी कारण वेश्याएं भी हर युग में रहीं, बस नाम बदलते रहे। पहले जहाँ वे काम के अलावा रिझाने की दुकान थी वहाँ अब सिर्फ काम की ही पूर्ति इनका लक्ष्य रह गया है।

महर्षि वात्स्यायन ने तो महापुरुषों की वासना तृप्ति करने को गणिकाओं का धर्म माना था। गणिकाएं उस समय की नगर संस्कृति की एक स्वीकृत और आवश्यक मांग थी। मौर्यकाल में तो इनकी देखरेख के लिए सरकारी विभाग तक बना दिये गए थे।

"कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सरकारी गणिकाध्यक्ष को आदेश दिया गया कि वह रूपवती, जवान और कलानिपुण युवतियों को एक हजार सिक्के वार्षिक वेतन पर गणिका की हैसियत से नियुक्त करें। एक बात जो महत्व की है कि उस समय इन वेश्याओं को सामाजिक सम्मान और हैसियत प्राप्त थी। बड़े-बड़े घरानों में इनको ससम्मान निमंत्रित किया जाता था। राजा-महाराजा अपने पुत्र-पुत्रियों को नृत्य, संगीत, वाद्य, गायन आदि की शिक्षा दीक्षा के लिए इनके अधिकार में भेजते थे। नृत्य, गायन, वादन जैसी कलाएं शताब्दियों की उपेक्षा के बावजूद इन गणिकाओं द्वारा ही जीवित रखी गईं।"[17]

'टेवर्नियर नामक सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी पर्यटक ने मध्य भारत के गोलकोण्डा शहर का वर्णन इस प्रकार किया है–

"दरोगा के दफ्तर में बीस हजार गणिकाओं के नाम दर्ज हैं। प्रत्येक शुक्रवार को राजदरबार में इनका नृत्य होता है। शाम होते ही ये गणिकाएं राह चलते पुरुषों को आकर्षित करने के लिए दरवाजों पर खड़ी हो जाती हैं। शाम होते ही सारे मदिरालय खुल जाते हैं। गणिकाओं पर किसी प्रकार का

कर नहीं लगाया जाता। गणिकाओं के कारण ही शराब की खपत बहुत बढ़ जाती है। चूंकि शराब बेचने का ठेका सरकार के हाथ होता है इसलिए राज्य को बहुत आय होती है।"[18]

मौर्यकाल में वेश्याएं विषकन्या, मदनिका, गणिका जैसे नए रूपों में मिलती हैं जिनका उपयोग युद्ध के समय या शत्रुता निभाने के समय एक शत्रु दूसरे शत्रु के विरोध में करता था। विषकन्या, मदनिका आदि पूरी ईमानदारी में स्वामी भक्ति और राष्ट्रभक्ति का परिचय देती थी। इसके अलावा वेश्या का एक और सम्मानित रूप होता था'नगरवधू'का। राज्य की सबसे सुन्दर कन्या को 'नगरवधू' जैसी उपाधि देकर राज्य की सम्पत्ति घोषित कर दिया जाता था। यह वेश्या ही होती थी पर आम आदमी की पहुँच से दूर अर्थात् अभिजात्य वर्ग ही इसका उपभोग कर सकता था जिनमें राजा, महाराजा, मंत्री एवं अन्य कुलीन वर्ग शामिल थे। नगरवधू सर्वभोग्या होती थी और इसे विवाह करने का अधिकार नहीं था, जिससे उसे उच्च वर्ग के पुरुषों की अनियंत्रित, अमर्यादित, अस्वाभाविक वृत्ति की सामग्री बनना पड़ता था।

मानव मुक्ति का स्वप्न देखने वाले बुद्ध की ही समकालीन थी 'आम्रपाली' और उन्हीं के समकालीन महावीर के समय थी वेश्या 'कोशी'। पर इतिहास का निर्माण करती वारांगनाओं के उद्धार के लिए उस समय के प्रखर चिन्तक, मानव मुक्ति के स्वप्नदृष्टा एवं करुणा की मूर्ति बुद्ध और महावीर ने कुछ नहीं किया। बुद्ध ने आम्रपाली के यहाँ प्रीतिभोज स्वीकार कर उसे अपने भिक्षुणी संघ में शामिल जरूर किया परन्तु उसका स्थान पुरुष भिक्षुओं से नीचा ही रखा।

वेश्यावृत्ति के इतिहास को यदि पचास-पचपन वर्ष पीछे देखा जाए तो पाएंगे कि पुरुष इन जगहों पर सिर्फ इसलिए नहीं जाते थे कि वे काम के मारे होते थे, तब की उच्च कोटि की कलावती वेश्याएं जहाँ वासना का शमन करती थी,वहीं कला का भी आनन्द देती थीं। शेर, शायरी, दोहे,कवित्त,मुहावरों का तो उनके पास अक्षय कोष ही होता था। 'उमराव जान' जैसी अनेक वेश्याओं का उदाहरण हमारे सामने हैं।

उनकी संभाषण कला, हाज़िर जवाबी, रसिक मिजाजी एवं नृत्य संगीत आदि का मजा लूटने रईस, शौकमिजाज, राजा महाराजा एवम् सुसंस्कृत एवं सभ्य व्यक्ति आते थे, वह भी बिना अपराध बोध के। सिर्फ युवक की नहीं प्रौढ़ और बौद्धिक कला मर्मज्ञ तक इनके पास जाते। पश्चिम भारत में इसे लेकर भले ही कुछ कठोरता रही हो पर उत्तर प्रदेश, बंगाल और दक्षिण भारत में इसे

पाप या दुराचार के रूप में नहीं देखा जाता था परन्तु शहरीकरण, औद्योगिककरण तथा आधुनिकीकरण की आंधी के साथ-साथ कला, कला का हुनर और अदाकारी सिमटती चली गई और सिर्फ देह ही बची रह गई। पहले जहाँ नृत्य और संगीत पर सिर्फ वेश्याओं और बाइयों का ही एकाधिकार था अब बदलती सोच के चलते, नृत्य और संगीत के स्कूलों के चलते यह घर-घर पहुँच गया। तो इस लिहाज से ज्यों-ज्यों इनकी कला का स्तर गिरता गया ये हीन होती गई और धीरे-धीरे कला परिदृश्य से लगभग विलुप्त सी हो गई। बचा रह गया तो केवल शरीर जिससे ही इनकी पहचान होती है।

वैदिक काल में (1000 ईसा पूर्व) भारत इस बात के लिए जाता था कि वहां ऐसी वेश्याएं थीं जो संगीत और नृत्य में काफी पारंगत थीं। आर्यों ने मोहब्बत और खातिर तवज्जो की निशानी के तौर पर विदेशी राजाओं को वेश्याएं 'आनदं उपहार' के तौर पर मुहैया कराने की रवायत थी। वैदिक साहित्य में ऐसे कई स्त्रोत हैं जो वेश्याओं की सामाजिक स्थिति की जानकारी देते हैं। इससे पता चलता है कि जिस्म फरोशी एक सुसंगठित संस्थान के रूप में वजूद में थी। समाज इसे कुबूल करता था और उसकी खास मिल्कियत और जिम्मेदारियाँ हुआ करती थीं। उन दिनों वेश्याओं का वर्गीकरण एकदम साफ़-साफ़ परिभाषित था और उससे इस बात की साफ झलक मिलती है कि कितने करीने से यह व्यवस्था विकसित थी।

1030 ई. में 'अलबरूनी' जो एक अरब यात्री था वह भारत का वर्णन करते हुए लिखता है कि–

"भारतीय राज्यों में जो मुगलों की फतह के ठीक पहले वजूद में थे, जिस्मफरोशी या वेश्यावृत्ति राज्य के प्रशासन का एक अहम् हिस्सा थी। एक ऐसी नीति बनाई गई थी कि राज्य जिस्म फरोशी से जितनी आमदनी करता था, उसका ज्यादातर हिस्सा एक बड़े पुलिस बल के रख-रखाव के लिए इस्तेमाल में लाया जाता था। कुलीनों और राजघरानों के अलावा वेश्याएं नियमित रूप से सेना की खिदमतगारी भी करती थी। हुकूमत करने वाला तबक़ा वेश्याएं या गणिकाएं पैदा करने, उन्हें बढ़ावा देने, उनकी हिफाजत करने और उनके लिए नियम कानून बनाने के लिए जवाबदेह मालूम होता था।

इसके विपरीत मनु ने चोरों और जुआरियों के साथ वेश्याओं को भी अपराधियों की कतार में रखा था और एक ऐसा भी दौर रहा जब इस उपमहाद्वीप के खास शासन ने ऐलान कर दिया कि तवायफों का कत्ल करना जुर्म नहीं है। लेकिन जल्दी ही समझ बनी कि जिस्मफरोशी रिवायत के लिए सरकारी टैक्स उगाही का एक ज़रिया है। इसलिए कई शासकों ने वेश्यावृत्ति के धंधे को नियम कानून

के तहत लाने की कोशिश की।"[19]

मुगल काल में तो वेश्यावृत्ति काफी फली-फूली जिसका कारण मुगलों का संगीत एवं नृत्य प्रिय होना था।

मुस्लिम मंगोल हमलावरों ने, जो सोलहवीं सदी के शुरुवाती दौर में पर्सिया से आए थे, आधे दक्षिण एशिया पर हुकूमत की थी। उन्होंने न सिर्फ गायिकाओं और नर्तकियों को पनाह दी बल्कि वे शायरी, चित्रकारी संगीत, हाथ की कारीगरी और वास्तुकला के भी कद्रदान थे। वे शास्त्रीय संगीत के बड़े-बड़े उस्तादों को चाहे वे मर्द हों या औरत मदद दिया करते थे।

ज्यादातर मुगल हुक्मरान नाचने और गाने वाली औरतों के बड़े संरक्षक थे। वेश्यावृत्ति कानूनन वैध थी और उन पर टैक्स लिया जाता था। बादशाह अकबर (1556-1605) संगीत और नृत्य के बड़े संरक्षक के रूप में जाना जाता था। इसके अलावा वह खुद भी एक मशहूर विद्वान था, जबकि औरंगजेब (1658-1707) एकदम दूसरे सिरे पर था। एक कट्टर मुसलमान के तौर पर उसने जिस्मफरोशी पर पाबंदी लगाने की कोशिश की लेकिन इसको जड़ से ख़त्म करने में वह नाकामयाब रहा। जितनी जल्दी मुमकिन था उसने दिल्ली के बाजारों को बंद कर दिया और तवायफ़ें उन इलाक़ों में चली गईं जहाँ अमीर संरक्षक उनकी हिफाजत करते थे। जो भी हो कई मशहूर मोहब्बतों के वाक़यात सामने आए जब तवायफ़ों की याद में कई महल और मक़बरे बनाए गए।

चूँकि नई ज़मीनों पर फ़तह करना और अपने राज्य की सीमाओं की हिफाज़त करना बादशाहों के लिए दो अहम मुद्दे थे। अतः युद्ध आदि के समय मुगल फौज़ों के मनबहलाव की ख़ातिर औरतें (वेश्याएं) उनके साथ ही कूच करती थीं। उनके ख़ातिर अलग कैंप लगाए जाते थे और अफसर, सिपाही तथा बादशाह आदि उनकी सेवाएं हासिल करते थे। हुनरमंद नाचने गानेवालियाँ उनका मन बहलाव करती थी। यह सब ज्यादा दिनों तक नहीं चल सका क्योंकि दूसरी कुछ सियासी ताक़ते भी भारत में दाखिल हो गई जिससे मुगलों के पैर उखड़ गए।

ऐतिहासिक दस्तावेज़ बताते हैं कि पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेज व्यापारियों के आगमन से कलकत्ता, कोचीन, मद्रास और बम्बई जैसे समुद्री बंदरगाहों में भी जिस्मफरोशी फल-फूल गई। विदेशी व्यापारी हिंदुस्तान में बग़ैर परिवार के आते थे और वे हिन्दुस्तानी औरतों से ही अपनी यौन-इच्छाओं को पूरा किया करते थे। कईयों ने तो रखैले रख ली थीं। प्रोमीला कपूर के अनुसार—'व्यावसायिक

जिस्मफरोशी इस उपमहादेश में सतरहवीं सदी के शुरुवाती दौर में पनपी थी क्योंकि व्यापारी ही तवायफ़ों के सबसे बड़े ग्राहक बन गए थे।

बंदरगाहों से यह वृत्ति बड़े-बड़े शहरों में फैल गई और फिर दूसरे इलाक़ों में भी अपनी जड़ें जमा लीं। इस व्यवसाय से मुनाफा होने लगा और इसके साथ ही औरतों को जबरन चकलाघरों में धकेल दिया गया।

व्यापारियों ने बंदरगाह के करीब वाले हिंदुस्तानी चकलाघरों (वेश्यालयों) के लिए दूसरे मुल्कों से भी लड़कियाँ मंगाना शुरू कर दिया जिससे यह धंधा खूब पनपने लगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की हुकूमत के दौरान जिसके बाद ब्रिटिश राज्य क़ायम हो गया, जिस्मफरोशी बढ़ गई थी और ब्रिटिश मर्दों के मनबहलाव की ख़ातिर ढेर सारे चकलाघर खुल गए थे,जिससे एंग्लो-इण्डियन के इजाफ़े में भी मदद मिली थी। लाहौर का मशहूर 'अनारकली बाजार'अंग्रेजों के चलते ही वजूद में आया था। अब यह पाकिस्तान में है।

उन्नीसवीं सदी के शुरुवाती दिनों में ब्रिटिश लोग तवायफ़ों के ग्राहक भी थे और उनको सुधारने वाले भी। उन्होंने औरतों की ख़रीद-फ़रोख्त और वेश्यावृत्ति को काबू में रखने के लिए नियमों को सुधारा। सारी तवायफ़ों को सरकार के यहाँ अपना नाम रजिस्टर करवाना पड़ता था। सोलह साल से कम उम्र वाली लड़की या जो गर्भवती या शादीशुदा थी, लेकिन क़ायदे से तलाकशुदा नहीं थीं, का रजिस्ट्रेशन नहीं किया जाता था। कभी-कभी जब कोई लड़की कुंवारी होती थी तब उसके मां-बाप को यह सुझाव दिए जाते थे कि जब तक वह बड़ी न हो जाए उसे वेश्यावृत्ति के धंधे से दूर रखा जाए। जरूरत पड़ने पर औरतों की डॉक्टरी जांच हुआ करती थी और उनका इलाज भी करवाया जाता था। उनके स्वास्थ्य कार्ड बनते थे जिसमें डॉक्टरी जाँच के लिए तारीख़ की जगह होती थी। जनगणना में भी तवायफ़ों की संख्या दर्ज होती थी, जिसने जिस्मफरोशी को कानूनन एक जायज़ धंधा ठहराया था। 1921 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार 10,814 तवायफ़ें थीं, जो 20,999 घरेलू नौकरानियों के बाद काम करने वाली औरतों की सबसे बड़ी संख्या थी।[20]

इस तरह के प्रशासनिक तौर तरीक़ों ने न सिर्फ उसको जायज ठहराया बल्कि उनको संस्थागत भी किया। समाज में वेश्यावृत्ति का एक दूसरा पक्ष भी है जिसे पारम्परिक वेश्यावृत्ति के नाम से पहचाना जाता है।जिसका कारण है,आर्थिक तंगी व घोर गरीबी परन्तु इसके मूल में है ढोंग,

अंधविश्वास,अशिक्षा एवं पिछड़ापन।

समाज में कुछ ऐसी ही जरायमपेशा जातियां हैं, जिनका जीवन दयनीय होता है। इन जातियों की लड़कियाँ इस धंधे को खुशी से स्वीकार करती हैं। यदि लड़कियाँ इस धंधे को न चुने तो उनके मां-बाप इतने जाहिल और गँवार होते हैं कि उन्हें इस तरफ धकेलकर ही दम लेते है। पेरना, कुंजर, बेड़िया, कबूतरा आदि कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो पेशेवर वेश्या होती हैं या कहें कि पारम्परिक वेश्या। वेश्यावृत्ति जैसा पेशा इन्हें विरासत में मिलता है जिसे ये बुरा नहीं मानतीं।यहाँ तक कि ये अपने घर में परिवार के बीच रहकर इस पेशे का निर्वाह करती हैं। लड़कियों की पैदाइश इनके परिवार में खुशियाँ लेकर आती हैं इसलिए लड़की होने पर जश्न मनाया जाता है।

मध्य प्रदेश के सागर, पन्ना, छतरपुर व दमोह क्षेत्र में पाई जाने वाली बेड़िया जाति में चंदा बेड़नी की कहानी सुनाई जाती है।

'कहानियां तो खत्म हो गईं लेकिन देह व्यापार का सिलसिला आज भी जारी है। आज भी हर साल बैशाखी के समय करार मेले का आयोजन होता है। इसमें सभी बेड़ियां एकत्र होते हैं। इस अवसर पर देह व्यापार में आने वाली या आ चुकी नई लड़कियां राई नृत्य करती हैं। इस अवसर पर नई बेड़िनी (वेश्या) की नथ उतराई की रस्म होती है। नथ उतराई के बाद वेश्या के लिए एक शानदार जश्न मनाया जाता है। इसमें सभी वेश्याओं, दलालों, नायिकाओं और बिरादरी के लोगों को आमंत्रित किया जाता है। नथ उतारने वाला इस आयोजन का मुख्य अतिथि होता है। और उपहार में गहनें, कपड़े आदि भेंट करता है। यह भव्य जश्न दो दिन तक चलता है। वरिष्ठ वेश्याएं नथ उतरी वेश्या की बलाएं लेती हैं और धंधे में उतरने के उपलक्ष्य में आशीर्वाद देती हैं।'[21]

गौरतलब है कि मुगलकाल के दौरान हुए अत्याचारों से तंग आकर कुछ राजपूत व हिन्दू जातियाँ जंगलों में चली गई और खानाबदोश जीवन जीने लगी परन्तु ब्रिटिश काल में शासन के दौरान कठोर नियंत्रण से परेशान होकर खानाबदोशों का एक बड़ा समूह विभिन्न जागीरदारों, जमींदारों से संपर्क कर गांवों में रहने के लिए अपनी लड़कियों से 'देह-व्यापार' करवाने लगा। इन्हें ब्रिटिश काल में 'अपराधी जाति'घोषित कर दिया गया था। बीहड़ों से आने के कारण ये बेड़िया कहलाए। आज इनकी लगभग सभी जातियों में देह व्यापार का चलन है। इस कारण इन्हें खानदानी वेश्या से भी जाना जाता है।

बेड़ियों की तरह ही कंजर, कबूतरा, नट, साँसी और पेरना आदि जातियों का भी इतिहास है।

वेश्यावृत्ति की पारम्परिक व्यवस्था में कुछ खास जनजातीय समूह इसे अपने खानदानी पेशे के रूप में अपनाते हैं। कंजर आमतौर से सबसे ज्यादा वेश्यावृत्ति से जुड़ा जनजातीय समूह सदियों से इस पेशे में रहा है। मिरासी दूसरा जनजातीय समूह, वेश्यावृत्ति में सीधे शामिल नहीं लेकिन वह कंजरों को संगीत उपलब्ध कराता है, जब वे अपने ग्राहकों का मनोरंजन करते हैं। पूरे भारत में कई जनजातीय समूह इन पेशों को अपनी पारम्परिक पारिवारिक विरासत के रूप में अपनाते हैं। धर्म या देवालयों से इन पारम्परिक वेश्या जाति का कोई सम्बंध नहीं होता है।

हालांकि बदलते समय के साथ इनके परिवारों में भी वेश्यावृत्ति कम होती जा रही है, जिसका कारण शिक्षा है। युवा पीढ़ी पढ़-लिख गई है। अब ये एक नए जीवन की ओर जाने लगे हैं। तथा अपनी आने वाली पीढ़ी को देह व्यापार के पेशे में न धकेलकर उनकी शादी ब्याह अपने समाज से अलग समाज में करने लगे हैं। अपने बच्चों की पढ़ाई-लिखाई भी ये अपने पास रखकर नहीं करवाते बल्कि अपने किसी आत्मीय के पास (जो इस पेशे में नहीं है) भेजकर बच्चे का मासिक खर्च भेजते रहते हैं और वहीं रहकर उनकी जरूरतों को पूरा करते हैं। यहाँ तक कभी-कभी उन बच्चों को यह भी नहीं पता होता कि जहाँ वे रह रहे हैं वे उनके अपने माँ-बाप नहीं हैं। इससे पता चलता है कि देह व्यापार में लगी औरतों की सोच समय के साथ बदल रही है।

वैसे भी जरूरत है उन्हें अपनी सोच बदलने और उस नरक से निकलने की/क्योंकि उन्हें वहाँ से निकालने की न तो किसी समाज, समुदाय और संस्था द्वारा कोशिश की गई और न ही की जाएगी। बस ये प्रयास किए गए कि वे पूरे समाज को गंदा न करें इसलिए उन्हें एक ही स्थान पर रखा जाए, उन्हें किसी प्रकार की बीमारी न हो इसलिए नहीं कि बीमारी उनको नुकसान पहुँचाएगी बल्कि इसलिए कि उनके द्वारा वह बीमारी किसी 'सामाजिक' को न पहुँचे। जब ऐसी सोच है समाज को सुधारने वालों की तो जरूरत है अपनी लड़ाई स्वयं लड़ने की।

इस बुराई को तभी ख़त्म किया जा सकता है जब वेश्याएं स्वयं यह तय कर लें कि दोहरे शोषण (एक तो शरीर का, दूसरे उनके अपने श्रम से मिले पैसों को कोठे की मालकिन, दलाल तथा पुलिस के बीच बाँटना होता है) पर आधारित इस कार्य को नहीं करना जो शरीर ही नहीं बल्कि आत्मा का भी शोषण करती है।

सरकार ने वेश्या उन्मूलन के लिए सीता और पीटा जो क्रमशः 1956, 1986 में बना, जैसे न जाने कितने ही कानून बनाए पर इसके बावजूद पूरे देश मे कपड़ा और सब्जी बाजारों की तरह देह बाजार स्थित हैं। ये अधिनियम न तो दलालों से निपट जाए और न ही वेश्याओं से।

इसलिए अधिनियम या नियम बनाने और उनको लेकर रोष प्रकट करने से अच्छा होगा कि वेश्याओं की मनःस्थिति को समझा जाए और उनकी समस्याओं का समाधान निकालकर उनकी मरी आत्मा को जागृत किया जाए साथ ही उनके भीतर स्वाभिमान, सम्मान और प्रेम का भाव जगाया जाए जिसकी उनके भीतर कमी है। यद्यपि गणिकाएं सभ्यता के आरंभ से ही दिखाई देती है और उनका प्रभाव समाज पर किसी न किसी रूप में पड़ता है इसलिए वे साहित्य की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो गई इसलिए प्राचीन युग की कथा, कविता और नाटक साहित्य में गणिकाओं को महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त हो सका था।

नीचे कुछ प्रमुख साहित्य दिए जा रहे हैं जिनके केन्द्र में गणिकाएं हैं और जिनकी (साहित्य) रचना भिन्न-भिन्न कालों में हुई।

आर्यग्रंथों में कुट्टनी–'कुट्टनीमतम्'–कुट्टनीमतम् के रचयिता दामोदरगुप्त के संबंध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। ग्रंथ की भाषा-शैली और आंतरिक ऐतिहासिक साक्ष्य को देखते हुए यह आठवीं शताब्दी की रचना दिखाई देती है। इसी शताब्दी में बगदाद के खलीफा के सेनापति मुहम्मद बिन क़ासिम ने सिंध पर विजय प्राप्त की थी। उसके बाद भारतीय इतिहास ने तेजी से करवट ली। यह शताब्दी वैसे कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है क्योंकि भारतीय संस्कृति के पतन की प्रक्रिया भी इसी युग में आरंभ हुई थी।

'कुट्टनीमतम्' में दामोदरगुप्त ने गणिका और कुट्टनी के संवाद द्वारा एक ऐसी सृष्टि खड़ी की है जिसमें गणिकाजीवन के भले-बुरे सभी पहलुओं पर नजर पड़ती है। इन सब प्रसंगों की कल्पना वाराणसी, आबू आदि तीर्थक्षेत्रों में की गई है। इससे यही मालूम होता है कि हमारे प्रसिद्ध तीर्थधाम बहुत पुराने काल से पापधाम बने हुए हैं। बनारस का वर्णन करते हुए दामोदर गुप्त कहते हैं–"यहाँ अक्सर मोक्ष की इच्छा वाले लोग बसते है, परन्तु देह सुख की कामना से आने वालों की भी यहाँ कोई कमी नहीं है। मुक्ति और भुक्ति दोनों के लिए वाराणसी से बढ़कर कोई स्थान नहीं।'[22]

इस रचना की नायिका मालती एक गणिका है जो रूप यौवन में रमणियों में रत्न के समान थी।

इसके अलावा भी वेश्या जीवन पर केन्द्रित अनेक रचनाएं हैं जिसमें कालिदास के प्रसिद्ध नाटक की रचना देवगणिका उर्वशी को लेकर हुई है और संस्कृत साहित्य की सर्वोत्तम उपलब्धि 'शाकुन्तलम्' की नायिका शकुन्तला स्वर्ग की 'सामान्या' मेनका की पुत्री थी। परन्तु नायिका के रूप में गणिका की योजना करने वाले समस्त साहित्य में 'मृच्छकटिकम्' का स्थान बेजोड़ है।

इस नाटक की नायिका वसन्तसेना का चित्रण जिस आत्मीयता और आदर की भावना से हुआ है, वह गणिका संस्था के प्रति तत्कालीन समाज की सद्भावना का ही द्योतक है। वसन्त सेना का चरित्र-चित्रण इतनी सहृदयता से हुआ है कि वह किसी कुलवधू से भी अधिक स्नेहमयी, दृढ़वती, सुविद्य और उच्च संस्कारयुक्त कलावती नारी दिखाई देती है। अंत में सामान्या नायिका के साथ धीरोदत्त नायक का विवाह करवा कर और उसका कुलीन गृहणी के रूप में प्रवेश दिखा कर नाटककार ने सभ्य समाज को एक हल्का सा धक्का अवश्य दिया है, परन्तु इतनी कुशलता और सौहार्द से काम लिया है कि पाठक या प्रेक्षक की संपूर्ण सहानुभूति कवि अपने हिस्से में डाल लेता है।[23]

शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' नाटक की तरह महाकवि दण्डी के 'दशकुमारचरितम्' नामक ग्रन्थ में भी गणिकाओं को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इस नाटक में गणिकाजीवन के महत्व की यह स्वीकृति समाज में उनके स्थान की निःसंदेह रूप से स्थापना करती है। इसमें दस कुमारों के साहसिक अनुभवों का वर्णन हुआ है। राजाओं और रानियों, विषयांध पुरुषों और कामातुर स्त्रियों, विटों और बौद्ध भिक्षुओं के साथ साथ विभिन्न कोटि की गणिकाओं का यथार्थता से वर्णन है।[24]

'माधवानल कामकंदला प्रबंध' पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में 'गणपति कायस्थ' नामक कवि की महाकाव्य शैली में रचित रचना है। जिसमें–

माधवानल नामक अत्यंत रूपवान ब्राह्मण युवक और कामकंदला नामक वेश्यापुत्री की प्रेम कहानी है। हिंदी साहित्य के आलम नामक मुसलमान कवि ने इसका ब्रजभाषा में अनुवाद किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान का कोई भी क्षेत्र इन गणिकाओं की चर्चा से अछूता नहीं रहा। अब तक तो हम गणिकाओं की ही चर्चा करते रहे परन्तु आगे हम ऐसी वेश्याओं या गणिकाओं की चर्चा करेंगे जिनका सम्बंध धर्म से है और जिन्हें हम देवदासी, देवपरिचारिका, देवगणिका, देव वेश्या या धार्मिक वेश्या में रूप में जानते हैं। इनके स्वरूप के बिना वेश्यावृत्ति को पूरी तरह समझा ही नहीं जा सकता।

देवदासी प्रथा धार्मिक गणिकावृत्ति का सबसे स्पष्ट प्रकार है। मंदिर में देवताओं के समक्ष नृत्य करने के लिए पेशेवर नर्तकियों की नियुक्ति करने की यह प्रथा केवल भारत में ही नहीं रही बल्कि मिश्र, बेबीलोन, सीरिया, यूनान, रोम की भी संस्कृति इससे मिलती जुलती है परन्तु भारत की तरह बीसवीं शताब्दी तक यानी अब तक यह प्रथा कहीं भी जीवित नहीं रही।

देवदासी प्रथा एक संस्था या अलग जाति के रूप में कब विकसित हुई, इस सम्बंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। पश्चिम के अधिकांश विद्वान इसे दसवीं शताब्दी की घटना मानते हैं। इस शताब्दी में दक्षिण में मंदिर निर्माण की प्रवृत्ति बहुत बलवती हो उठी थी और प्रतिमापूजन की विस्तृत विधियों का विकास भी इसी युग में हुआ था। आरंभ में देवप्रतिमा को पंखा या चंबर ढुलाना, आरती करना, देवालयों और जुलूसों में प्रतिमा के समक्ष नृत्य करना इत्यादि कार्य ही उन्हें सौंपे जाते थे। देह विक्रय की प्रथा इस संस्था के साथ शायद कुछ बाद में जुड़ी। देवदासी प्रथा का सबसे पुराना उल्लेख सन् 1004 के तमिल भाषा में लिखे हुए एक शिलालेख में मिलता है।

'संगीत नृत्य आदि कलाओं से सर्वथा अपरिचित धार्मिक गणिकाओं का एक वर्ग भी दक्षिण भारत में पाया जाता है। उन्हें अकसर पारिवारिक परिस्थितियों के कारण गणिका बनना पड़ता है। शूद्र जाति की स्त्रियाँ पुत्र जन्म न होने पर पुत्री को देवर्पित कर देती है।'

FH-12832

आगे हम देखेंगे कि देवदासी प्रथा का दक्षिण भारत में कैसा रूप है और इसका परिणाम आगे चलकर स्त्रियों को किस रूप में झेलना पड़ता है।

देवदासियां और वेश्याएं उसी प्रकार है जैसे एक सिक्के के दो पहलू है। इस बात पर जरा भी संदेह नहीं किया जा सकता कि वेश्यावृत्ति में आने वाली लगभग अधिकांश वेश्याएं देवदासी की प्रक्रिया से होकर वेश्यावृत्ति की ओर उन्मुख होती हैं। उसके पीछे जहाँ आर्थिक कारण हैं वहीं सामाजिक और धार्मिक भी, जिसे हम आगे विस्तार से समझेंगे।

थोड़ा भी गौर करें तो हम आसानी से देख सकते हैं कि देवदासियों का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव समाज यानी भारतीय समाज में आरम्भिक रूप विशेष रूप में धार्मिक स्थिति का अध्ययन करें तो पाएंगे कि मंदिरों के प्रचलन के साथ-साथ देवदासी बनाने की प्रथा का भी चलन हुआ। देवदासी अर्थात् 'देव की दासी' जिसका काम देव अर्चना करना, वस्त्र बदलना, पूजा करना भगवान के सामने नृत्य करना आदि होता था, पर धीरे-धीरे पूजा-पाठ घटता गया और नृत्य के साथ

साथ वेश्यावृत्ति का विकास होता गया और इसी कारण इन्हें देवदासी के साथ-साथ 'धार्मिक वेश्या जैसे सम्बोधन दिये जाने लगे।

आरम्भ से देवदासी प्रथा का केन्द्र स्थल (भारत में) दक्षिण भारत रहा जिसका कारण प्राचीन काल के राजाओं द्वारा संगीत और कला को प्रश्रय दिया जाना है। दक्षिण भारत में छोटे-बड़े जितने भी राजा हुए उन्होंने किसी न किसी रूप में मंदिरों का निर्माण जरूर किया और उनकी आय का अधिकांश भाग मंदिरों के निर्माण और संरक्षण पर खर्च किया जाता था।

दूसरी ओर जब हम विश्व के प्राचीन धार्मिक इतिहास के पन्नों को पलटते हैं, तब पाते हैं कि देवदासी प्रथा केवल भारत में ही नहीं पनपी, बल्कि यूनान, मिश्र, बेबीलोन में भी यह प्रथा थी। ऐसा भी कहा जाता है कि भारत में ग्रीक के प्रभाव से ही देवदासी प्रथा की नींव पड़ी, क्योंकि पौराणिक काल में यह प्रथा यहाँ नहीं थी। देवदासी प्रथा पर से झीना आवरण सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेन सांग ने उठाया। उसने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि, मुल्तान के सूर्य मंदिर में बहुत बड़ी संख्या में नृत्यांगनाएं थीं। परन्तु इस बात से यह सिद्ध नहीं होता कि सूर्य मंदिर की कन्याएं देवदासी ही थीं, क्योंकि प्राचीन उपलब्ध साहित्य में हमारे यहाँ मंदिर कन्या अथवा नृत्य करने वाली कन्याओं को देवदासी नहीं माना गया है। दक्षिण भारत में जब संस्कृत भाषा का प्रभाव पड़ा, तब संभवतः तीसरी शताब्दी में देवदासी शब्द प्रचलन में आया, 'क्योंकि इसी काल में मंदिरों में कन्या समर्पित करने का दौर चल पड़ा था।

राजकुमार अपने एक लेख में लिखते हैं कि ''दक्षिण के राज्यों में देवदासी-प्रथा की शुरुवात दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में संभवतः कर्नाटक से हुई। एक प्राप्त अभिलेख में 'देगुलदाशुलेचारी' (नाचने गाने वाले लड़की मंदिर को समर्पित है) शब्द बार-बार आया है।'शुले'शब्द का अर्थ उन दिनों वेश्या से लिया जाता था। संस्कृत भाषा में भी 'शुले' शब्द का अर्थ वेश्या होता है, लेकिन कन्नड़ भाषा में 'शुले' का अर्थ 'परिवर्तित' अर्थात् वह प्राणी जिसने अपने को मंदिर में देवताओं की सेवा के लिये समर्पित या परिवर्तित कर दिया हो, होता है। इसी को बाद में देवदासी की संज्ञा दी गई।''[25]

कर्नाटक शुरू से ही दक्षिणापथ का एक अलग अंग रहा है। प्राचीन काल में जब देवदासी प्रथा यहाँ के मंदिरों में लागू की गई तब उसका प्रभाव परिष्कृत रूप में अन्य दक्षिणी मंदिरों पर भी पड़ा। फलस्वरूप मंदिरों के प्रांगणों में 'कल्याण मण्डपम्', 'नृत्य-मण्डपम्', आदि का निर्माण हुआ। बाद में

मंदिरों में समर्पित युवतियों के लिए 'पात्रादाबारू' या 'पाबालाकम्' शब्द अभिलेखों में लिखे मिले। कर्नाटक के कुछ हिस्सों में ऐसी युवतियों के लिए 'वासवी' शब्द का प्रयोग किया जाता था।

काकोली चक्रवर्ती लिखती हैं कि ''आंध्र प्रदेश के दक्षिणी जिलों में यह प्रथा विद्यमान है। अध्ययन से पता चलता है कि 'वसावी' देवदासियों से थोड़ी भिन्न हैं।ये एक तरह की मंदिरों में नाचने वाली लड़कियाँ हैं जो कि कुछ धार्मिक कार्यक्रमों में भाग लेती है और सामाजिक स्तर का उपभोग करती हैं। 'बसावी' स्थानीय देवताओं की पत्नियाँ होती हैं परन्तु उनका सम्बंध एक से अधिक लोगों से होने पर भी अनैतिक नहीं समझा जाता।'[26]

अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि 800 वर्ष पूर्व ओक्का लिंगा और गोमती जातियों में बसावी प्रथा को आरम्भ किया गया जबकि कर्नाटक में वीर-शैववाद अपनी चरम सीमा पर था जो वैष्णववाद में परिवर्तित हो गया और साथ में लगे आन्ध्र प्रदेश में फैल गया।

पुत्र की प्राप्ति के लिए छोटी लड़की को स्थानीय देवी की भेंट चढ़ाया जाता है, जिसे बसावी कहते हैं। कभी-कभी परिवार को बीमारियों से बचाने के लिए भी ऐसा किया जाता है।

वर्तमान में बसावी प्रथा आंध्र प्रदेश के चित्तूर, अनन्तपुर कुरनूल, निल्लोरी और कृष्णा जिलों में विद्यमान है। अधिकतर गांव के लोग बसावियों का सम्मान करते हैं, उन्हें विश्वास है कि बसावियों की भलाई के लिए करना गांव के कल्याण के लिए करना है।

16वीं शताब्दी में इस प्रथा को कुछ हानि हुई थी जब एक शक्तिशाली राजा ने इस पर पाबंदी लगाई थी। यह प्रथा निम्न एवम् उच्च दोनों जातियों में प्रचलित है। बसावी वेश्याओं में नहीं गिनी जाती और इनके बच्चों को भी वैध करार दिया जाता है और दोनों, मां तथा बच्चे को समाज के अन्य लोगों से हीन नहीं समझा जाता है। अर्थात् ये वेश्या और देवदासी दोनों से अलग समझी जाती रहीं। धार्मिक आंदोलन के तहत देवदासी शब्द 'येलम्मा' के मंदिर में देवी को समर्पित नाचने-गाने वाली, सेवा करने वाली युवतियों के लिए प्रयोग किया गया है। आज भी गोवा, महाराष्ट्र की देवदासियों की देवी 'येलम्मा' मानी जाती है।

देवदासियों की अलग पंचायत हुआ करती थी, जो उन पर बराबर नजर रखती थी, और देखती थी कि देवदासियां अपने समाज के नियम के अनुसार कार्य करती हैं या नहीं। देवदासी समाज के नियम के अनुरूप उन्हें परिवार की सम्पत्ति आदि में पुत्र की तरह हिस्सा पाने का अधिकार था। वे

अपने परिवार से पूछे बग़ैर किसी भी लड़की अथवा लड़के को गोद ले सकती थीं। और अगर कोई देवदासी (मध्यकाल से 17वीं शताब्दी तक) अपने समाज के नियमों का उल्लंघन कर किसी से विवाह कर लेती थी और पुत्र जनती थी तो समाज में खुशी नहीं मनाई जाती थी।

मंदिरों से सेवा मुक्त होने पर देवदासियों को मृत्यु-पर्यन्त भत्ता मिलता था। जब कोई देवदासी बूढ़ी हो जाती थी या असाध्य रोग से ग्रस्त हो जाती थी तब सेवामुक्ति के लिए उसे मंदिरों के अधिकारियों को प्रार्थना पत्र देना पड़ता था।

राजकुमारजी उसी लेख में आगे लिखते हैं कि 'भारत में देवदासी प्रथा प्रचलन का इतिहास बहुत पुराना है। सन् 755 से लेकर 1100 ई. तक के इतिहास में इनकी जानकारी मिलती है। उस समय देवदासियाँ, देवपत्नियां कहलाती थीं। ईश्वर अथवा देवी को प्रसन्न करने के लिए ये संगीत, नृत्य और गायन से उनकी उपासना करती थीं। उस काल में देवदासियों के कारण शास्त्रीय नृत्य और गायन-वादन की कला का बहुत विकास हुआ। प्रारम्भ देवदासी की भूमिका कला प्रधान थी। संगीत, नृत्य, गायन व अपने रूप लावण्य के कारण मूर्तिकला की अभिवृद्धि में योगदान करने के कारण उनका समाज में भी खूब सम्मान किया जाता था, लेकिन उनकी यह स्थिति अधिक समय तक कायम न रह सकी। देवभूमि की बजाय मंदिर के पुजारी स्थानीय राजा, महाराजा, नरेश, सामंत, बड़े व्यापारी यहाँ तक कि ग्राम प्रधान और गांव के शक्तिशाली वर्ग इनका उपभोग करने लगे और इनका सम्मान खत्म हो गया।[27]

आज स्थिति यह है कि सार्वजनिक भोग के कारण इनकी स्थिति वेश्याओं जैसी हो कर रह गई है।

देवदासी निर्माण की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार चलती है—अशिक्षित और धर्मभीरू परिवार अपनी विपत्तियों को दूर करने तथा इच्छाओं की पूर्ति के लिए देवी के सामने मिन्नतें मांगते हैं। मन्नतें पूरी होने पर परिवार की बेटी को देवी को अर्पित कर देते हैं। देवी के साथ उसका विवाह कर दिया जाता है, इस कारण वह किसी अन्य से विवाह नहीं कर सकती। वह देवदासी बन जाती है। उसके विवाह का खर्च गाँव का रईस व मंदिर प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो ग्राम का रईस व मंदिर का स्वामी बालिका को उसके अभिभावक से ख़रीद लेता है। इस विवाह के बाद उस कन्या की अपनी इच्छाएं व दिनचर्या जैसे बिक सी जाती है। जब तक वह बच्ची होती है देवी येलम्मा का चित्र टोकरी

में रख भिक्षाटन करती है और जैसे ही वह यौनावस्था में पदार्पण करती है, वही रईस जिसने उसके तथाकथित विवाह का खर्च उठाया था, अपने खर्च का मूल्य वसूलने के लिए हाथ फैला देता है। एक विशेष रात्रि मंदिर का पुजारी, स्वयं उस देवदासी को सजा-संवार कर तैयार करता है तथा मुखिया या रईस को आमंत्रित कर देता है कि वह उसका उपभोग करे। इस प्रकार वह कन्या धर्म के नाम पर उस क्षेत्र में पहुँच जाती है जिसका सम्बंध न तो आत्मा से होता है और न ही परमात्मा से।

जब तक उसका यौवन रहता है वह यौनाचार का माध्यम बनी रहती है और जब यौवन टल जाता है, बुढ़ापा घेर लेता है तो भिक्षाटन ही उसके भरण पोषण का एक मात्र सहारा बन जाता है। उनमें कुछ अगर दिखने में अच्छी होती है तो उन्हें वेश्यालयों में भी पहुँचा दिया जाता है।

देवदासी प्रथा का सबसे पुराना उल्लेख 1004 के लगभग तमिल भाषा में लिखे एक शिलालेख से मिलता है। इसमें उल्लेख है कि तंजाबुर के मुख्य मंदिर में चोल महाराजा द्वारा चार सौ तालाचेटी पेंडुगल (देवदासियों) की नियुक्ति हुई थी, जिसमें से प्रत्येक को उनकी प्रतिष्ठा और कला साधना के अनुपात में देवार्पित ज़मीन का हिस्सा मिलता था। धीरे-धीरे यह देवदासी प्रथा खुल्लम खुल्ला गणिका संस्था बन गई यानी धार्मिक वेश्यावृत्ति।

मजे की बात यह थी कि देवदासियों की लड़कियाँ पेशा करती थीं और उनके लड़कों की पत्नियाँ कुलवधुओं के समान गृहस्थी की सीमाओं में रहती थीं। देवदासी बनाने के लिए लड़की को धूमधाम से मंदिर में ले जाया जाता था। तलवार अथवा देवमूर्ति से उसका विवाह धूमधाम से सम्पन्न होता था।

देवदासी यदि रूपवती होती तो कोई न कोई धार्मिक सेठ उसे मंदिर से अपने भोग के लिए ले जाता, लेकिन वृद्ध देवदासियों को बिना सुरक्षा के ही मंदिरों से निकाल दिया जाता था। इन देवदासियों के प्रथम संभोग का अधिकार अक्सर उस व्यक्ति को मिलता जो मंदिर को सर्वाधिक धन राशि देता था। कई जगह यह सौभाग्य ब्राह्मणों को मिलता था। 'धार्मिक सेवा के रूप में मंदिरों में नाचने की प्रथा का एक लम्बा इतिहास रहा है। भारत में इसके उद्भव और विकास का प्रयत्न पूर्वी मध्यकाल के दौरान किया गया। लेकिन अन्य देशों जैसे-मेसोपोटामिया, इजिप्ट एवं यूनान में कई हजार वर्ष पूर्व भी इसका महत्व दिखाई पड़ता है। मिश्र में ओरिसिस एवं इसिस के मंदिर नाचने वाली लड़कियों से भरे रहते थे।

'सुमेर' में सुन्दर औरतों का सम्बंध सभी मंदिरों से होता था,जहाँ वे भगवान की देखरेख करती थीं। इन कन्याओं की 'प्रमुख' देव या ईश्वर की पत्नी कहलाती थी और बाकी बिना विवाह के मंदिर में रहकर अन्य पुरुषों से सम्बंध बनाती थी।

ए. के. सिंह अपनी पुस्तक देवदासी सिस्टम इन एन्सिएंट इण्डिया में लिखते हैं कि–"मंदिरों में मुख्यतः निम्न जातियों यानी गैर ब्राह्मण परिवारों की लड़कियों को देवदासी बनाया जाता था। इस सम्बंध में हमें उच्च वर्गों के परिवारों की लड़कियों के देवदासी बनने की जानकारी नहीं है। कभी-कभी गुलामों को भी खरीद कर मंदिरों को समर्पित कर दिया जाता था। 'मेलाप्पेरुम्बलम' स्थित 'दक्षिणापुरुश्वर' मंदिर के रिकॉर्ड से मालूम चलता है कि एक वेल्लाल महिला को मंदिर के लिए पन्द्रह लोगों ने खरीदा था। मंदिर में दलित लड़कियों का समर्पित किया जाना आम बात थी, जिनमें मादिगा, केकोलस, बेदा, डोम्बार तथा अन्य गैर ब्राह्मण जातियां थीं। सवर्ण जाति की महिलाओं को भी देवदासी बनाए जाने का उदाहरण हमें मिलता है परन्तु इस स्थिति में जब वह विधवा हो, क्योंकि हिन्दू धर्म में विधवाओं को बहुत कष्टकारी जीवन जीना पड़ता था जिससे बचने के लिए वे देवदासी बन जाती थीं। ऐसी युवती को किसी पुरुष से विवाह करने की इजाज़त थी लेकिन वह पुरुष बच्चे पैदा करने का अधिकारी नहीं था इसके लिए वही महिला किसी अन्य गुलाम युवती को अपने पति के साथ संभोग करने के लिए भेजती थी। यानी देवदासी बनी कोई भी महिला कल्पनापूर्वक देवता की पत्नी के रूप में रहती थी और पुरुष से उसके संभोग की प्रक्रिया किसी चमत्कारिक विवाह जैसी थी।"[28]

असल में, देवदासी प्रथा की जड़ें धार्मिक सामंतवाद के रूप में कहीं गहरे तक थी। जिसका उपयोग राजा भी करते थे। उनके दलाल समाज में जाते और मंदिरों में नृत्य आदि करने वाली सुन्दर युवतियों को राजा के व्यभिचार के लिए ले जाते।

देवदासियों के सम्बंध में हमें जितनी जानकारी तथा तथ्य मिलते हैं, अधिकांश का आधार शिलालेख विवरण हैं। ऐसे दो सौ पचासी शिलालेखों का परीक्षण किया जा चुका हैं। कुछ लेख पत्थरों पर मिले हैं और शेष कॉपर प्लेट पर। मुख्यतः ऐसे शिलालेख तमिल में लिखे हुए हैं अन्य कन्नड़ तेलुगु एवं संस्कृत में हैं।

ये शिलालेख मंदिरों की दीवारों पर लिखे हुए हैं इनमें से बहुत से खराब स्थिति में हैं, जिन्हें पढ़ा

नहीं जा सकता और जो पढ़ने योग्य हैं उनसे देवदासियों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

मध्यकाल के साहित्य विशेष तौर पर रोमांटिक कविताओं में देवदासियों की भाव भंगिमा, स्वभाव, रहन-सहन तथा घर आदि के बारे में विवरण मिलता है। कई विदेशी यात्रियों के विवरण से भी इस प्रथा के बारे में जानकारी मिलती है। अबू डूबर जो कि एक अरब यात्री था वह अठारहवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते भारत आया और उन्होंने इस बारें में लिखा कि—देवदासियों को देवताओं की नौकरानी या दासी कहा जाता था। लेकिन तत्कालीन समाज में लोग उन्हें वेश्याओं से अधिक और कुछ नहीं समझते थे।

"कानूनी तौर पर देवदासियों का व्यवसाय देवताओं की सेवा में स्वयं को अर्पित करना माना जाता था। यह धार्मिक व्यवसाय सभ्यता के उस दौर में सम्मान का सूचक था। सुमेर में इन महिलाओं के अलग-अलग वर्ग थे पर सभी की गिनती वेश्याओं में होती थी। इनके लिए अनुशासन जरूरी था, जिसे तोड़ने पर मृत्यु दण्ड (जला कर हत्या) का प्रावधान था।"[29]

भारत के भिन्न-भिन्न राज्यों में यह प्रथा अलग-अलग नामों से प्रचलित हुई, केरल में महारी, आसाम में नेति, महराष्ट्र में मुरली और मातंगी, कर्नाटक में बसावी और जोगिनी तथा आंध्र प्रदेश में देवदासी। भारत में देवदासी प्रथा का प्रचलन मध्यकाल में हुआ। इस समय एक 'सेपरेट' जाति मंदिर में नृत्य और संगीत के लिए आई जो आर्थिक रूप से काफी कमजोर थी। उस समय मंदिर में नृत्य एवं गायन की कला को ईश्वर-पूजा सम्बंधी कार्य के रूप में स्वीकार किया जाता था। उस समय इस कार्य को एक अलग वर्ग विशेष करने लगा उस पर भी महिला वर्ग, जिसे देवदासी कहा जाने लगा यानी भगवान की दासी। कोणार्क एवं खजुराहों के मंदिर की प्रतिमाएं इसका उदाहरण हैं। देवदासियाँ प्रायः स्थानीय मंदिरों से सम्बंधित होती थी एवं उन्हें राज्य का संरक्षण प्राप्त था और भगवान के साथ उनका सम्बन्ध मंदिर से उनके दासत्व का प्रतीक था। देवदासियों से धार्मिक सेवा के अलावा भी शारीरिक सेवा की मांग की जाती थी। कई सालों के सुधार के बावजूद भी इसको समाप्त नहीं किया जा सका।

समस्या को देखने का धार्मिक दृष्टिकोण—देवदासी प्रथा की जड़ बहुत गहराई में है यानी एक हजार साल पूर्व के इतिहास में। इतिहास सम्पूर्ण भारत को दैवीय ढंग से प्रकाशित करता है।

डॉ. विजयम अपने एक लेख में लिखते हैं कि "दो प्रकार की देवदासियों का भारत में प्रचलन

रहा। प्रथम प्रकार की देवदासियों का प्रचलन वैष्णव सम्प्रदाय के रूप में रहा जो विष्णु की पूजा करती थी और उन्हीं के मंदिरों में नाच-गाना प्रस्तुत करती थीं। ऐसी स्त्रियाँ उच्च वर्ग से आती थी तथा जिनका सम्मान भी ज्यादा था। इसके विपरीत दूसरा प्रकार निम्न जाति से आता था जो शैव सम्प्रदाय का अनुयायी था और इनका काम शिव के मंदिरों में पूजा अर्चना, नृत्य एवं गायन था। यहाँ निम्न जाति से तात्पर्य अछूत वर्ग या अनुसूचित जाति से था। इस वर्ग को दोहरा शाप झेलना पड़ता था, जैसे महाराष्ट्र में इनको ग्राम देवता यानी गांव के शक्तिशाली पुरुषों के आगे भी समर्पित किया जाता था। कभी-कभी इन्हें जमींदार के मृत शव के आगे शिव का कुपित रूप बनाकर चारों ओर घूमते हुए नृत्य करना होता था जिसके बदले उन्हें रोटी के कुछ टुकड़े भर दिये जाते थे। यहाँ तक कि उस समय कोई भी सक्षम व्यक्ति इन्हें ले जाकर अपनी वासना तृप्ति करता था। देवदासियाँ गांव में उत्सव के समय विशेष रूप से नृत्य के लिए बुलाई जाती थीं।[30] देवदासी प्रथा प्राचीन काल से अब तक कोढ़ के समान समाज में व्याप्त है इसकी समाप्ति के लिए समय समय पर आन्दोलन चलाए गए एवं अधिनियम बनाए गए परन्तु आज तक इसको समाप्त नहीं किया जा सका। इस प्रथा को लेकर तब से अब तक कई आंदोलन किए गए–

देवदासी प्रथा पर प्रहार करने वाले प्रथम व्यक्ति के रूप में यदि किसी का नाम लेना हो तो पद्म श्री 'काका कारखानीस' का नाम याद आता है।

1920 के आंदोलन में जो युवा पीढ़ी सार्वजनिक जीवन में उतरी थी, उसके वे एक सदस्य थे–पुणे के डेक्कन कॉलेज में उच्च शिक्षा प्राप्त कर वे बम्बई विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त कर चुके थे।

बीजापुर 'गोल-गुम्बद' के लिए दुनिया में मशहूर है। काका ने इसी बीजापुर को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। 1930-32 के स्वतंत्रता आंदोलन में भी वे रहे। 1932 ई. में महात्मा गांधी ने जब अस्पृश्यता निवारण का काम उठाया तब काका भी उसमें शरीक हो गए। तभी काका कारखानीस ने देखा कि अस्पृश्यता घिनौनी और अमानुषिक है, लेकिन देवदासी प्रथा उससे भी बदतर है। देवदासी प्रथा के विरुद्ध पहली लड़ाई काका कारखानीस के नेतृत्व में लड़ी गई।

देवदासी प्रथा का विस्तृत सर्वेक्षण पहला कार्य था, उसके एक सहयोगी हणमंत राव कौजलगी ने सर्वेक्षण का जिम्मा उठाया। उनके अनुसार तब बम्बई महानगर की वेश्या बस्तियों में पांच हजार

देवदासी बहनें थीं, जो इस क्षेत्र की थीं। इस कुप्रथा को मिटाने के लिए बीजापुर, बेलगांव तथा धारवाड़ जिलों में प्रचार कार्य आरंभ हुआ। प्रचार के दौरान एक चौंकाने वाली बात सामने आई वह ये कि होलार (महार), मदार (मांग), समगर (चमार) आदि अस्पृश्य जातियों में तथा बेइड, डोबारी आदि अस्पृश्येत्तर जातियों में यह प्रथा मुख्य रूप से थी। जैसे बालकों को सहज रूप से पाठशालाओं में भर्ती कराया जाता है उतने ही सहज भाव से लड़कियो को देव दासी या जोगतिन बनते हुए जब उन्होंने देखा तो उन्हें हैरत हुई। काका कारखानीस ने उनकी स्थिति को देखकर एक पुस्तक लिखी : "देवदासी : ए कर्स ऑफ अवर कंट्री" इसमें उन्होंने लिखा है :–

"जब तक हम इनको मनुष्य और अपने समकक्ष नहीं मानेंगे तब तक इनमें आत्मसम्मान की भावना नहीं जागेगी। उनको लगना चाहिए कि आने वाले नए विश्व के वे भी निर्माता हैं। सूरज की किरणें आने पर ओस के कण जिस तरह स्वयं नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह अपने बारे में जो हीनता का भाव उनमें है, वह नष्ट हो जाएगा।"[31]

काका जी ने अपने जीवन में न जाने कितनी ही देवदासियों को मुक्ति दिलाई, अच्छे घरों में उनकी शादी करवाई जिससे अब वे सम्मान की जिन्दगी जी रही हैं। काका जी के इस कार्य के लिए भारत सरकार ने उनको पद्मश्री से अलंकृत किया है।

डा. अम्बेडकर महराष्ट्र के रहने वाले थे उन्होंने भी साक्षात् देवदासी प्रथा को देखा और जाना कि देवदासी बनने वाली अधिकांश स्त्रियाँ अनुसूचित जाति से आती हैं,जिसका कारण भारतीय हिन्दू धर्म है। डा. अम्बेडकर के अनुसार–

हिन्दू धर्म में असंख्य चमत्कार थे, साथ ही सामाजिक मान्यताएं, परम्पराएं भी थीं, जो लोगों को हिन्दुओं की इन अजीबोग़रीब पहेलियों में उलझाए रखती थीं। सच तो यह है कि उन पहेलियों को कोई हल करने की कोशिश नहीं करता था। विशेष तौर पर देवदासी तथा उसके परिवार के साथ यही भय होता था, जिसका फायदा पूरी तरह से ब्राह्मण या पुजारी वर्ग उठाता था। और वह प्रथा आगे चलती थी। उदाहरण के तौर पर जब किसी नव विवाहित दम्पत्ति को बच्चा नहीं होता था या उन्हें कोई बीमारी हो जाती थी तो मानसिक तौर पर उन्हें लगता कि यह सब इसलिए हुआ कि उससे देवता नाराज हैं, और देवताओं को नाराज रखना आम आदमी के लिए संभव न था। इसलिए वे वही करते जो ब्राह्मण उनसे करने के लिए कहता था। इसलिए–

अम्बेडकर ने स्त्रियों का आह्वान किया कि वे अपने परिवार की रक्षा करें और अपनी जाति को अपमानित न होने दें। यद्यपि कि समाज में उनके आंदोलन का प्रभाव उदारवादी और सामंत विरोधी रहा। आज बौद्ध धर्म को मानने वालों के बीच जो महाराष्ट्र महार जाति के माने जाते थे वह प्रथा लगभग खत्म हो चुकी है, जबकि पहले यह उनमें मुरली प्रथा के नाम से बहु प्रचलित थी। सांगली और कोल्हापुर जिले के महार परिवार कुछ समय पहले तक येलम्मा देवी, सामंती अधिपतियों और उदीयमान पूँजीपतियों को हजारों की संख्या में अपनी लड़कियाँ समर्पित किया करते थे।

यह परिवर्तन केवल कुछ व्यक्तियों के नेतृत्व अथवा प्रदर्शन के कारण नहीं आया, बल्कि नीची जाति के खेतिहर मजदूरों की नये ढंग से जीने की भावना के फलस्वरूप आया। ऐसे प्रयासों का प्रमाण ''बम्बई प्रादेशिक सरकार द्वारा 1934 में पारित देवदासी उन्मूलन' है।

डा. अम्बेडकर के सामाजिक आंदोलनों के सहयोगी मित्र शिवराज जानवां कांबले दलितों के बहुचर्चित पत्रकार व समाज सुधारक नेता थे। सामाजिक दुर्गुणों पर लेखनी चलाना मात्र इनका उद्देश्य न होकर व्यवहारिक तौर पर भी वे सदैव तत्पर थे। मंदिरों में देवदासी छोड़ने की कुप्रथा को उन्होंने चुनौती के रूप में लिया। भगवान की पूजा की आड़ में कुंवारी लड़कियाँ पाखण्डी पुजारियों की हवस का शिकार रहें यह उन्हें असहनीय था। कांबले 'सोमवंशीय पत्र' के सम्पादक थे, उन्होंने अपने पत्र के माध्यम से धर्म की आड़ में चल रहे स्त्री यौन शोषण के इस कुकर्म को विराम देने हेतु समाज के नैतिक अस्तित्व को झंकझोरा, सुधारवादी युवाओं को चेताया।

'भोग्या' बनाई गई दासियों को पुजारी कभी भी स्व पत्नी नहीं बनाते थे, अपितु नव यौवना आने पर पहली का परित्याग कर देते थे जिसे समाज में सामान्य जीवन मिलने की बजाय वेश्यालयों की नारकीय दासता मिलती थी। बतौर पत्रकार की हैसियत से कांबले ने पत्र में देवदासियों की दशा व्यक्त की तथा अपने कुछ साथियों की मदद से इन सभी का सामूहिक विवाह कराने के लिए विज्ञापन देकर भारी संख्या में विवाह का समापन किया। इस रूप में कांबले का योगदान सराहनीय है जिन्होंने तत्कालीन ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ कदम उठाया।

जोगिन प्रथा के खिलाफ प्रभावी संघर्ष हुआ। भौंरेलाल कमल लिखते हैं कि ''इस संघर्ष का संचालन आंध्र प्रदेश की राज्यपाल श्रीमती कुमुद बेन जोशी की अध्यक्षता में गठित ''राष्ट्रीय सामाजिक कार्य संस्थान' कर रहा था। तेलंगाना क्षेत्र के निज़ामाबाद, करीम नगर, मेडाक, अलिदाबाद

और करनूल जिलों में उस समय 10 हजार युवा और वृद्ध जोगिनें थीं।

सम्मेलन में,मुख्य भाषण में श्रीमती कुमुद बेन जोशी ने कहा कि धर्म, सूखा, अकाल और आग जैसी प्राकृतिक आपदाओं का भय दिखाकर उक्त क्षेत्र का सम्पन्न और शक्तिशाली वर्ग पांच-छहः वर्ष की बालिकाओं का कथित ग्रामीण देवता पोथाराजू से बाकायदा दुल्हन की तरह विवाह करा देता है। इन अबोध बालिकाओं को पता भी नहीं होता कि इस अवसर पर उसके गले में डाला गया मंगलसूत्र आगे चल उन्हें बंधुआ मजदूरों और वेश्याओं से भी बदतर जिन्दगी प्रदान करेगा। ग्रामीण देवता से विवाह के बाद वह बालिका 'सुमंगली' कहलाती है,किन्तु वास्तव में उसी दिन विधवा हो जाती है। बाद में उनकी सन्तान को 'अवैध सन्तान' कहा जाता है। तब एक जोगिन की सन्तान का दूसरी जोगिन की संतान से ही विवाह हो सकता है। तेलांगाना क्षेत्र की लगभग दस हजार जोगिनों में 95 प्रतिशत जोगिनें अनुसूचित जातियों से थीं। तथाकथित सवर्ण जातियों के लोग अपनी कन्याओं को जोगिनें नहीं बनाते। उस समय यानी 1985 से लेकर अब तक इसके खिलाफ संघर्ष जारी है।[32]

समाजसुधारकों, राजनीतिज्ञों ने ही इसके खिलाफ संघर्ष नहीं किए बल्कि सरकार ने भी इस कुप्रथा से निबटने के लिए विशेष अधिनियम बनाए जिनके बावजूद भी आज तक इस प्रथा को बंद नहीं किया जा सका और ये सारे अधिनियम ठंडे बस्ते में पड़ गए। विभिन्न राज्यों में नाबालिग लड़कियों का येलम्मा देवी के समक्ष समर्पण बदस्तूर जारी है। मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं कि-

'आज भी विशेष रूप से फरवरी,मार्च और अप्रैल में एक बड़ा मेला लगता है,जिसमें हजारों स्त्री-पुरुष और बच्चे इकट्ठा होते हैं और देवताओं के सम्मुख मन्नतें मांगते हैं। उनमें से कुछ माता-पिता अपनी बेटियों को देवदासी बना देते हैं। धार्मिक आस्था के बहाने देवदासियों का यौन शोषण और देवदासी समाज की अंधभक्ति या अंधविश्वास के कारण देवदासी बड़ी संख्या में वेश्या बनती रही हैं।'

इसी दौरान लेखक ने वहाँ के नाई से बात की। बहुत सी महिलाओं की संस्थाएं लड़कियों यानी देवदासियों के बढ़े हुए बाल वहीं के नाइयों से कटवाती हैं क्योंकि सर के बाल बढ़ना और उनमें जटाएं बनना, इससे समझा जाता है कि येलम्मा देवी उस लड़की को देवदासी बनाना चाहती हैं। ऐसा विश्वास कर अनिष्ट के भय से दलित समाज के ग़रीब लोग अपनी बेटी को देवदासी बनाते हैं।[33]

महाराष्ट्र सरकार ने तो देवदासी प्रथा को एक कला मानकर संरक्षण दिया एवं उनके संरक्षण

के लिए अलग से एक विभाग भी खोला।जिसे देवदासी कला केन्द्र विभाग के नाम से जाना जाता है। यह विभाग देवदासियों के साथ ही साथ मंदिरों की मरम्मत, देखरेख का कार्य भी करता है। इसके अलावा दक्षिण भारत में आजादी के पहले और बाद में एक देवस्थान मंत्रालय बनाया गया ताकि मंदिरों और उसमें रहने वाली देवदासियों को संरक्षित रखा जा सके।

जहाँ इनके बचाव के कानून बने वहीं इनके विरोध में भी अधिनियम बनाए गए–

देखा जाए तो सबसे पहले मैसूर राज्य ने देव दासी प्रथा को बंद करने तथा इसके बारे में कुछ नियम बनाने की व्यवस्था की शुरूवात की। 1910 के आसपास हमें मैसूर राज्य के द्वारा देवदासी के बारे में कानून या नियमों के प्रावधान का उल्लेख मिलता है। चूँकि स्वयं मैसूर के राजा को देवदासी प्रथा के नकारात्मक तत्वों के बारे में जानकारी थी, इसलिए उन्होंने इस अमानवीय प्रथा को बंद करने हेतु कदम उठाया।

आधुनिक भारत के भाग्य विधाता महात्मा गांधी जैसे राष्ट्रवादी नेता इस समस्या से अछूते रहे हों यह संभव नहीं था। भारतीय प्रजा के उत्कर्ष और उनकी आजादी का स्वप्न लिए इन्होंने अपने अनुभव के सहारे यह समझ लिया था कि सामाजिक सुधार की बुनियाद स्थापित हुए बिना राजनीतिक स्वातंत्र्य का कोई अर्थ न होगा। यद्यपि सामाजिक सुधार और पतितोद्धार के प्रश्नों का निराकरण स्वतंत्रता के बाद ही सुगमता से हो सकेगा। यह सोचकर उन्होंने इस समस्या के समाधान को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया। यही नहीं उन्होंने वेश्याओं का स्वतंत्रता संघर्ष में योगदान देने के लिए भी आह्वान किया।

गांधी जी ने वेश्याओं से आत्म सुधार करने और स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने की अपील की। गांधी जी की प्रेरणा से काशी में एक 'तवायफ़ सभा' की स्थापना हुई। जिसका श्रेय गांधी जी ने 'विद्याधरी बाई' नामक तवायफ़ को दिया। नागर जी ने अपनी पुस्तक 'ये कोठेवालियाँ' में उस भाषण का इस प्रकार विवेचन किया है–महात्मा गांधी के साथ जो हम लोगों ने मीटिंग की थी वह बहुत दिनों की बात है और मुझे अच्छी तरह स्मरण नहीं है। लेकिन यह बात मुझे जरूर याद है कि महात्मा जी ने उस मीटिंग में वेश्यावृत्ति बंद करने के लिए कहा था और लड़के लड़कियों की शादी ब्याह करने के लिए कहा था, जिसमें कि सर्वप्रथम मैं ही इससे सहमत थी। राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गांधी जी मुझसे कहते थे कि आप अंग्रेज गवर्नमेंट के विरुद्ध स्वाधीनता के लिए राष्ट्रीय गान भारत के

प्रत्येक रियासतों तथा नगरों में,जहाँ आपका संगीत प्रोग्राम हो वहाँ अवश्य गाया कीजिए। मैंने वही किया जिसकी कुछ पंक्तियाँ–

"चुन-चुन के फूल ले लो अरमान रह न जाये, ये हिंद का बगीचा गुलजार रह न जाए।
ये वो चमन नहीं है लेने से वो उजाड़, उल्फत का जिसमें कुछ भी एहसान रह न जाए।
कर दो जबान बंदी, जेलों में चाहे भर दो, माता पै कोई होता कुरबान रह न जाए।[34]

इस प्रकार गांधी जी ने अपनी नीति कुशलता से वेश्याओं को दुत्कारने या नीचा दिखाने के बजाय उन्हें उनके पेशों के अनुरूप ही आंदोलन का प्रचार कार्य सौंप दिया।"

महात्मा जी ने जिस समस्या का समाधान खोजने के लिए भारत की आजादी का इंतजार किया उनका वह वेश्या सुधार का स्वप्न अधूरा रह गया। क्योंकि आजादी को भोगने तक वे जिंदा न रह सके।

"1924 में भारतीय दण्ड संहिता द्वारा देव दासी प्रथा के निवारण हेतु कानून लागू किया गया, जिसके तहत इस प्रथा को अवैध तथा अपराधिक श्रेणी में रखा गया। तीन वर्ष बाद 1927 में एक अन्य कानून द्वारा इनके मुक्ति की व्यवस्था की गई विवाह कर सम्मान पूर्ण जिन्दगी बिता सकती थीं। इसी प्रकार 1934 में महाराष्ट्र में भी एक कानून बना कर देवदासी प्रथा को अवैध घोषित कर दिया गया।"[35]

"इसके अलावा देवदासी प्रथा समाप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने भी 1930 में एक कानून पास किया था कि यह प्रथा चाहे जितनी पुरातन या पवित्र हो, आज के सन्दर्भ में यह स्त्रियों को वेश्या बाजार में धकेलती है। इस कायदे के अनुसार जिसे अर्पण किया गया हो, उस लड़की को छोड़कर अन्य जो भी व्यक्ति इस विधि के लिए अपनी लड़की देगा, या ऐसी रस्म में सहायता देगा या विधि सम्पन्न करवाएगा, उसे एक साल के सश्रम कारावास या आजीवन कारावास की सजा होगी। कायदा तो बन गया किन्तु ब्रिटिश न्यायालय में इसके विरुद्ध एक भी शिकायत दर्ज नहीं हुई।[36]

विभिन्न सामाजिक संगठनों के संयुक्त प्रयासों के फलस्वरूप कर्नाटक सरकार ने इस सामाजिक कुरीति से निपटने के लिए एक कानून पास किया, जिसका नाम था 'कर्नाटक देवदासी समर्पण निषेध विधेयक 1981।' इस विधेयक का मुख्य उद्देश्य था राज्य में लड़कियों का देवदासी के रूप में समर्पण पर रोक लगाना। विधेयक जो बाद में अधिनियम बना देवदासी के रूप में लड़कियों के समर्पण को

गैर कानूनी करार दिया और समर्पित लड़की के बारे में सदियों से चली आ रही रूढ़ि को कि देवदासी किसी अन्य पुरुष से विवाह नहीं कर सकती निष्प्रभावी और रद्द कर दिया गया। कानून के अनुसार किसी भी महिला के विवाह को केवल इस लिए अवैध और उसकी संतान को नाजायज करार नहीं दिया जाएगा कि वह देवदासी है यानी सीधे सरल शब्दों में कानून देवदासी के विवाह और उसकी संतान को पूर्ण वैधता प्रदान करता है।

"जिस तरह राजस्थान में शारदा एक्ट होने के बावजूद बाल विवाह धड़ल्ले से होते हैं, उसी तरह कर्नाटक राज्य में 17 साल पहले से लागू "कर्नाटक देवदासी समर्पण अधिनियम" के बाद भी वहाँ आज भी देवदासी प्रथा जारी है। इसी वर्ष कर्नाटक के लिंगसपुर तालुक गांव में 50 लड़कियों के गले में मंगलसूत्र बांध कर उन्हें ईश्वर की पत्नी बना दिया गया और विधिवत देवदासी घोषित कर दिया गया। और यह सब उस समय हुआ जब 'देवदासी दीक्षा समारोह' का 'दलित संघर्षसमिति' और अन्य दूसरे संगठन जोरदार विरोध कर रहे थे तथा पुलिस भी वहाँ उपस्थित थी, लेकिन वह मूकदर्शक बनी रही।

कर्नाटक एक ऐसा राज्य है जहाँ प्रतिवर्ष माघ पूर्णिमा पर 'देवदासी दीक्षा समारोह' का आयोजन होता है। 1989 में तीन हजार, 1990 में एक हजार और 1991 में दो हजार बच्चियों को देवदासी बनाने का समाचार प्राप्त हुआ है।"[37]

देश के अन्य हिस्सों में कुल जितनी लड़कियों देव दासी बनाई जाती है उससे अधिक अकेले येलम्मा मंदिर में बनाई जाती हैं। इन लड़कियों को जो अभिशप्त जिंदगी जीनी पड़ती है उसकी कल्पना मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह सच है कि देवदासी प्रथा धर्म के नाम पर स्त्रियों को गुलामी की जंजीर से बांधती है और दलित जाति की औरतों का शोषण करती है।

कानून और बल प्रयोग से इस प्रथा को समाप्त नहीं किया जा सकता। इसके साथ जुड़े धार्मिक भावनाओं का भी ध्यान रखना होगा। इसके खिलाफ एक सामाजिक आन्दोलन होना चाहिए, जिसमें समाज के प्रति प्रतिबद्ध शिक्षित लोगों को भाग लेना चाहिए।

मौजूदा समय में इस प्रथा के बने रहने का सबसे बड़ा कारण दलित परिवारों की ग़रीबी और आर्थिक पिछड़ापन है। ग़रीब लोग अपनी लड़की को इस कारण से देवदासी बनाने से नहीं हिचकते क्योंकि बाद में उनकी यही लड़की आय का साधन बन जाती है।

प्रथा के अनुसार, लड़कियों को बचपन में ही देवी को समर्पित कर दिया जाता है। समर्पण की रस्म पूरी होने के बाद इन लड़कियों को घर ले आते हैं और जब वे वयः सन्धि की अवस्था में पहुँचती हैं तो इनकी नीलामी की जाती है। सबसे ज्यादा बोली लगाने वाले व्यक्ति को ही उस लड़की का स्पर्श करने की अनुमति दी जाती है। वही व्यक्ति लड़की का पहला स्वामी होता है। बोली लगाने वाला व्यक्ति पहले उस लड़की का भरपूर यौन शोषण करता है और बाद में किसी दलाल के हाथों बेच देता है जिससे उसकी लगाई रकम वसूल भी हो जाती है और उसकी इच्छा पूर्ति भी हो जाती है।

बोली लगाने के लिए जो समारोह आयोजित किया जाता है उसे 'स्पर्श-समारोह' कहा जाता है। इस तरह जब तक वह लड़की वेश्यावृत्ति में संलग्न रहती है तब तक तक उसके परिवार वालों को भी थोड़ा बहुत पैसा मिलता रहता है। इस प्रकार से परिवार को न केवल अतिरिक्त आमदनी हो जाती है बल्कि लड़की के पालन-पोषण, पढ़ाई-लिखाई और शादी आदि पर होने वाला खर्च भी बच जाता है।

कई बार कुप्रथा और अंधविश्वास के चलते भी लड़कियों को वेश्यावृत्ति में धकेल दिया जाता है।

दक्षिण भारत (कर्नाटक) में येलम्मा देवी के अनुयायियों का मानना है कि येलम्मा जिस लड़की को पसंद करती हैं उसके शरीर पर सफेद धब्बे हो जाते हैं और बाल जटादार होते हैं यदि उसे देवी को समर्पित नहीं किया गया तो परिवार पर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ता है।

अज्ञानता और अंधविश्वास के अलावा चिकित्सा सुविधा का अभाव भी इस तरह की कुप्रथा के बने रहने में मदद करता है। सफेद दाग़ और जटादार बाल गंभीर रोग के लक्षण होते हैं। इसलिए रोग का इलाज किया जा सकता है न कि देवी को समर्पित करना। कभी-कभी देखा जाता है कि गांव के ही सवर्ण पुरुष लड़कियों के बालों में कुछ चूर्ण सा डाल देते हैं जिससे बालों में जटा बनने शुरू हो जाते हैं।

अतः इस बात में कोई शक नहीं कि देवदासी प्रथा ने वेश्यावृत्ति के लिए 'आग में घी' का काम किया जिससे वेश्यावृत्ति और भी फैली। इसलिए देवदासी प्रथा को वेश्यावृत्ति से अलग करके नहीं देखा जा सकता बल्कि दोनों का समाधान साथ ही साथ रखकर खोजा जाना चाहिए क्योंकि किसी एक के भी रहने पर वह अपने पुराने रूप में दोबारा आ जाएगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अप्सरा, रमन लाल बसंत लाल देसाई, संस्करण 1989, प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, पृ. सं.-676
2. वही, पृ. सं.-677
3. वही, पृ. सं.-678
4. वही, पृ. सं.-680
5. वही, पृ. सं.-681
6. देवदासी सिस्टम इन एन्सिएंट इण्डिया, ए स्टडी ऑफ टेम्पल डान्सिग गर्ल इन साउथ इण्डिया, संस्करण 1990, प्रकाशन एच. के. पब्लिशर एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली-52 ए. के. सिंह, स्टड़ी, पृ. सं.-7
7. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशियोलॉजी, भाग-1, मैरी एल. बोरगाटा, मैकमिलन पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क, पृ. सं.-340
8. अप्सरा, रमन लाल बसंत लाल देसाई, संस्करण 1989, प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, पृ. सं.-676
9. प्राचीन भारत में दास प्रथा, देवराज चानना, संस्करण 1989, अनुवादक शंभुदत्त शर्मा, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय-110002
10. वही, पृ. सं.-26
11. वही, पृ. सं.-37
12. वही, पृ. सं.-93
13. वही, पृ. सं.-134
14. अप्सरा, रमन लाल बसंत लाल देसाई, संस्करण 1989, प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, पृ. सं.-676
15. भूमिका-ऋषियों की रंगरेलियाँ, डॉ. रामस्वरूप संखवार, संस्करण 2003, प्रकाशन अग्नि ग्राफिक्स, कानपुर
16. प्राचीन भारत में दास प्रथा, देवराज चानना, संस्करण 1989, अनुवादक शंभुदत्त शर्मा, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय-110002
17. वही, पृ. सं.-33
18. वही, पृ. सं.-36

19. कलंक, रेडलाइट इलाके की गोपन संस्कृति-फौज़िया सईद, 2004 अनुवाद-हेमंत, प्रकाशक बुक्स फॉर चेंज, साउथ एक्स, नई दिल्ली-49

20. द लाइफ एण्ड वर्ल्ड ऑफ कार्ल गर्ल्स इन इण्डिया, प्रोमीला कपूर, पृ. सं.-70

21. लेख—खानदानी वेश्या-कोख का कलंक, पत्रिका जून - 2001, सीक्रेट रिपोर्टर, पृ. सं.-109

22. अप्सरा, रमन लाल बसंत लाल देसाई, संस्करण 1989, प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, पृ. सं.-653

23. वही, पृ. सं.-682

24. मृच्छकटिकम् (नाटक) सं. डॉ. रमा शंकर त्रिपाठी, प्रथम संस्करण-1969, प्रकाशक मोती लाल बनारसी दास, जवाहर नगर, दिल्ली-07

25. लेख- देवदासी समस्या विश्लेषण और निष्कर्ष, राम कुमार पत्रिका समाज कल्याण, मार्च 2004

26. वही, पृ. सं.-

27. देवदासी सिस्टम इन एन्सिएंट इण्डिया, ए स्टडी ऑफ टेम्पल डान्सिग गर्ल इन साउथ इण्डिया, संस्करण 1990, प्रकाशन एच. के. पब्लिशर एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली-52 ए. के. सिंह, स्टड़ी, पृ. सं.-7

28. देवदासी कस्टम रूरल सोशल स्ट्रक्चर एण्ड फ्लेश मार्केट के. सी. ताराचन्द-संस्करण 1980, रिलायंस पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली-08

29. पत्र लेख-जोगिनी रीहैब्लिटेशन, डॉ. विजयम, पत्र-एथिस्ट मार्च, 1999

30. लेख-काका कारखानीस देवदासी मुक्ति के अगुआ, यदुनाथ भत्थे, धर्मयुग 1984, मई, पृ. सं.-10

31. लेख- जोगिनी प्रथा के खिलाफ, भौरेलाल कमल, दिनमान, मार्च 1987

32. साक्षात्कार 'बेटियों और देवदासियों' के बीच एक दिन, समाज कल्याण, अप्रैल 2002, बी-12, कुतूब इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-16

33. शीर्षक 'वारवधू विवेचन', ये कोठे वालियाँ, अमृत लाल नागर, संस्करण-2001, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, पृ. सं.-193-195

34. लेख- देवदासी प्रथा और कानून, जगजीत सिंह, नवभारत टाइम्स, 31 मई 1987

35. वही

36. लेख- देवदासी, दिनमान, 22-28 मार्च, 1987, पृ. सं.-82

अध्याय-दो

हिन्दी साहित्य में वेश्याएं

हिन्दी में उपन्यास विधा की शुरुआत स्त्री जीवन के वर्णन के साथ हुई, यानी आरम्भिक उपन्यासों के केन्द्र में स्त्री पात्र और उनकी समस्याएं हैं। भारतीय स्त्रियों की समस्याओं का स्रोत है भारतीय समाज और उसकी संरचना। वेश्यावृत्ति जैसी ज्वलंत समस्या का कारण भी हमारी भारतीय संस्कृति, संरचना और मानसिकता ही है। इसी प्रसंग में वेश्यावृत्ति जैसी समस्या और भारतीय समाज के साथ उसके संबंध को भी भारतीय उपन्यासों में जगह मिली।

''सन् 1899 में 'कुसुमकुमारी' वेश्यावृत्ति जैसी सामाजिक समस्याओं को आधार बनाकर लिखा गया, जिसके रचनाकार किशोरीलाल गोस्वामी हैं। यह हिन्दी का पहला उपन्यास है। जिसमें वेश्यावृत्ति और देवदासी प्रथा को साथ साथ देखा गया है तथा मुक्ति की चेतना के साथ ही साथ देवदासी प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई गई है। उपन्यास की नायिका कुसुमकुमारी एक वेश्या है जिसे परिस्थितियों ने हाशिए पर डाल दिया है। उपन्यास में एक जगह कुसुमकुमारी कहती है कि ''जिस प्रथा में व्यभिचार और वेश्यावृत्ति की दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़वार हुई जा रही है, उस प्रथा को धर्म का अंग मानना यह कैसा विचार है।'' गोस्वामी जी समस्या की जड़ पर प्रहार करते हैं और हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराइयों से लोगों को उपन्यास के माध्यम से रूबरू कराते हैं।''[1]

प्रेमचंद का पहला महत्वपूर्ण उपन्यास 'सेवासदन' उनके उर्दू उपन्यास 'बाजारे हुस्न' का हिन्दी अनुवाद है। 1918 में लिखा प्रेमचंद का यह उपन्यास वेश्यावृत्ति जैसी समस्या की ओर लोगों का ध्यान ले जाता है। यद्यपि वेश्यावृत्ति 'सेवासदन' की मुख्य समस्या नहीं है फिर भी यह समस्या उपन्यास की मुख्य समस्या स्त्री पराधीनता से उपजी है। वेश्यावृत्ति के अलावा विधवा विवाह, अनमेल विवाह जैसी समस्याएं भी इसी मुख्य समस्या के ही कारण हैं।

इसमें वेश्यावृत्ति को समस्या के रूप में लिया गया है। प्रेमचंद के पूर्व हिन्दी उपन्यासों में वेश्याओं के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित किया गया है। प्रेमचंद इसके लिए उत्तरदायी सामाजिक-आर्थिक सूत्रों की खोज करते हैं। दहेज-प्रथा, अनमेल विवाह ही वेश्या वृत्ति की ओर नहीं ले जाते हैं बल्कि हमारी सामाजिक संरचना में कुछ ऐसे तत्व निहित है जो स्त्री को वेश्यावृत्ति की ओर धकेलते या मजबूर करते हैं।

प्रेमचंद महात्मा गांधी के असाधारण व्यक्तित्व, राष्ट्रीय आंदोलन और उसके उदात्त नैतिक मूल्यों से अत्यधिक प्रभावित थे खासकर उसके आदर्शवाद से। तभी तो वे 'सेवासदन' का अन्त आदर्शवाद

से करते हैं।

प्रेमचंद की घृणा वेश्याओं के प्रति न होकर वेश्यावृत्ति को बनाए रखने वालों के प्रति हैं।

प्रेमचंद पर आदर्शवाद इतना हावी है कि वे वेश्या रहते हुए भी सुमन को आदर्श से गिरने नहीं देते। कोठे पर जाने के बाद भी सुमन गाने का पेशा तो करती है पर भोली बाई की तरह अपना शरीर नहीं बेचती और यही कारण है जिसकी वजह से वेश्या कहे जाने के बावजूद गजाधर पाण्डे (पति) उसे स्वीकार कर लेता है। प्रेमचंद भारतीय समाज की उन झूठी मान्यताओं से अच्छी तरह परिचित थे जो स्त्री की पवित्रता उसकी यौन शुचिता से मानता है।

वेश्या जीवन समाज से उपेक्षित किसी स्त्री को कैसे आकर्षित करता है प्रेमचंद ये भोली बाई के रहन सहन को दिखाकर बताते हैं। भोली वेश्या समाज की प्रतिनिधि पात्र हैं इसलिए उसकी भाषा में खुशामदीपन है। भोली वेश्या समाज का ऐसा सुन्दर चित्र खींचती हैं कि निराश्रित सुमन को उसमें अपनी सारी महात्वाकांक्षाएं पूरी होती दिखाई देती है। भोली के घर का एक दृश्य–

"आठ बजते-बजते शामियाना गैस से जगमगा उठा। फूल पत्तों की सजावट उसकी शोभा को और भी बढ़ा रही थी। चारों ओर से दर्शक आने लगे। कोई बाइसिकल पर आता था तो कोई पैदल, थोड़ी देर में दो तीन फिटनें भी आ पहुँची और उनमें से कई बाबू लोग भी उतर पड़े। एक घंटे में सारा आँगन भर गया। कई सौ मनुष्यों का जमाव हो गया। कई आदमी मेहमानों का स्वागत सत्कार कर रहे थे। कोई गुलाब छिड़क रहा था, कोई खसदान पेश करता था।"[2]

यह सब देखकर सुमन का यह भ्रम टूट जाता है कि वेश्याओं को समाज घृणित समझता है। उसे लगता है, ऐसा सम्मान तो पतिव्रता स्त्री का भी समाज में नहीं होता। तो ज्यादा इज्जतदार कौन हुआ मैं या वह भोली?

सुमन एक पढ़ी-लिखी और स्वाभिमानी लड़की है, इसलिए पति के हाथ उठाने पर वह अपना भला बुरा सोचे बिना घर छोड़कर चली जाती है और यहीं से उसके बुरे दिन शुरू हो जाते हैं। भारतीय समाज की संरचना में नैतिकता के नियम पुरुषों और स्त्रियों के लिए अलग-अलग हैं जिसमें स्त्री के प्रति समाज का रवैया बेहद पिछड़ा और संकीर्ण है। सुमन अपने पति द्वारा त्यागी या निकाली गई है, इसीलिए कोई भी उसे सहारा नहीं देता। कुछ समय के लिए पद्मसिंह शर्मा कोशिश तो करते हैं कि सुमन को सहारा दें पर बदनामी के भय से उसे ज्यादा दिन तक नहीं रख पाते। अतः अंतिम

विकल्प के रूप में वह भोली के साथ रहना तय करती है।

पुरुषवादी विचारों का जड़हीन संस्कार मुख्य रूप से वेश्यावृत्ति को बढ़ावा देने में सहायक रहा है। और मध्ययुगीन बर्बर एवं अमानुषिक प्रवृत्ति पर पुरुषों का पूरा वर्चस्व रहा। उन्होंने स्त्री को जैसा चाहा वैसा रूप दिया। पुरुषों का अत्याचार कभी तो ये बर्दास्त कर लेती है पर कभी उसका विरोध घर छोड़कर करती है। पर उन्हें पता नहीं होता कि सारा समाज पुरुषसत्तात्मक है और वह उसे कोई जगह नहीं देगा बल्कि सारा दोष स्त्री पर ही मढ़ देगा जैसा कि सुमन के साथ।

प्रेमचंद ने भोली के घर होने वाली मंजलिस के द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया है कि समाज के तथाकथित कहे जाने वाले लोग भी कैसे वेश्यावृत्ति को बनाये रखने में कितने भ्रष्ट हैं वे इस प्रथा को बनाये रखने में सहायक ही नहीं बल्कि पूरी तरह से जिम्मेदार भी हैं।

हिन्दी-उपन्यास को प्रेमचंद युग में ही नई दिशा देने का सफल प्रयास किया जैनेन्द्र ने। इनका समय 1905-1988 ई. के मध्य रहा। परख (1929) सुनीता (1935) और त्यागपत्र (1937) आदि उपन्यासों में लेखक ने व्यापक सामाजिक जीवन को अपने उपन्यासों का विषय न बनाकर प्राणी मात्र की शंकाओं, उलझनों और गुत्थियों का चित्रण किया है। उन्होंने अधिकांशतः एक परिवार की कहानी को अपने उपन्यासों का आधार बनाया है। मनोविज्ञान पर जैनेन्द्र की पकड़ अच्छी है इसी कारण उनके उपन्यासों से चरित्रों की मनोवैज्ञानिक समझ प्राप्त होती है।

देखा जाए तो प्रेमचंद के सेवासदन की सुमन और 'त्यागपत्र' की मृणाल का चरित्र बहुत मिलता जुलता है। यहाँ तक कि वेश्या बनने के दोनों के कारण भी एक से हैं।दरअसल सामाजिक समस्या को चुनौती देने की प्रवृत्ति उस काल विशेष की है जहाँ स्त्री मुक्ति का स्वर तेज हो गया है। जैनेन्द्र एक संवेदनशील रचनाकार हैं और वे स्त्री की पीड़ा एवं दर्द को गहराई से महसूस करते हैं?

हर हाल में भारतीय सामाजिक संरचना स्त्री की स्वतंत्रता में बाधक है, तभी तो जब वह इस संरचना से टकराने का प्रयास करती है तो सारा समाज उसके विरुद्ध खड़ा हो जाता है फिर वह चाहे उसका अपना परिवार ही क्यों न हो।

'त्यागपत्र' की मृणाल ऐसी नारी पात्र है, जो अपनी दीनता में भी समाज का उपकार करती है। मृणाल के माध्यम से लेखक ने भारतीय सामाजिक ढाँचे पर जबर्दस्त प्रहार किया है। मृणाल की दशा से क्षुब्ध होकर उसके भतीजे प्रमोद, का जजी से त्यागपत्र देना पूरी व्यवस्था के आगे हारना दिखाता

है क्योंकि वह दुनिया भर के लिए तो न्याय करता है परन्तु अपनी बुआ के साथ-साथ नहीं कर पाता।

मृणाल के लिए शरीर की पवित्रता से अधिक आत्मा की पवित्रता महत्व रखती है पर समाज इस बात को स्वीकार नहीं करता। उसे किसी भी स्त्री के तन और मन दोनों की शुद्धता चाहिए, इसीलिए मृणाल जब अपने पति को ये बातें बताती है कि वह शादी के पहले किसी से प्रेम करती थी तो उसका पति यह बर्दाश्त नहीं कर पाता और उसको प्रताड़ित करने लगता है। यहाँ तक कि एक दिन उसे घर से निकाल देता है। प्रमोद कहता है–

"बहुत दिनों बात जो बात मैंने जानी, वह यह भी कि पति ने बुआ यानी मृणाल को त्याग दिया था क्योंकि बुआ दुश्चरित्र है और फूफा को मालूम था कि वह सदा से ही ऐसी हैं।"[3]

किन परिस्थितियों में एक औरत वेश्या बनती है जैनेन्द्र ने मृणाल के माध्यम से इसे बखूबी दिखाया है।

'सुहाग के नूपुर'-1966–छायावादोत्तर युग के रचनाकार और प्रमुख उपन्यासकार अमृत लाल नागर जी का यह उपन्यास वेश्या जीवन से सम्बद्ध एक विश्व प्रसिद्ध महाकवि इलंगोवन रचित तमिल महाकाव्य 'शिलप्पादिकारम्' पर आधारित होते हुए भी स्वतंत्र रचना है। उपन्यास की कथावस्तु तमिल प्रांत से ली गई है। उपन्यास स्वतंत्रता के बाद के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है।

'शिलप्पादिकारम्' अर्थात् 'सुहाग के नूपुर' शुरू से अंत तक कथा के इर्द-गिर्द है। उपन्यास की अन्तिम कुछ पंक्तियां वेश्या जीवन की कटु सच्चाई को व्यक्त करती हैं–

"अन्तिम दिन महाकाव्य की कथा समाप्त होने पर सबके जाने के बाद पगली महाकवि के पास आई। बोली 'सारा इतिहास सच-सच लिखा है, देव! केवल एक बात अपने महाकाव्य में और जोड़ दीजिए–पुरुष जाति के स्वार्थ और दंभ-भरी मूर्खता से ही सारे पापों का उदय होता है। उनके स्वार्थ के कारण ही उनका अर्धांग नारी-जाति पीड़ित है। एकांगी दृष्टिकोण से सोचने के कारण ही पुरुष न तो स्त्री को सती बनाकर सुखी रख सका और न वेश्या बनाकर। इसी कारण वह स्वयं भी झकोले खाता है और खाता रहेगा।"[4]

नागर जी परम्परावादी रचनाकार हैं, इसलिए वे भी स्त्री के चरित्र को दो रूपों, अच्छी औरत और बुरी औरत या कुलीन और कुलहीन रूप में देखते हैं। कन्नगी और माधवी उपन्यास की मुख्य स्त्री

पात्र हैं जिसमें कन्नगी कुलीन है और माधवी राजनर्तकी (वेश्या) है। इन दोनों के साथ पुरुष के व्यवहार को दिखाया है। सुहाग के नूपुर के बारे में मान्यता है कि वह कुलवधू ही धारण कर सकती है अन्य स्त्री नहीं। इसी बात पर माधवी की जिद है कि वह सुहाग के नूपुर लेकर रहेगी और इस कारण वह वेश्या जीवन के सारे मिथों को तोड़ते हुए परम्परा से टकराते हुए सुहाग के नूपुर को पाने की कोशिश करती है। अंततः वह असफल होती क्योंकि पुरुष सत्ता की बनाई गई मानसिकता से वह टकराती तो है पर उसे तोड़ नहीं पाती।

चेलम्मा कथा की एक भिखारी पात्र है जो पहले कभी राजनर्तकी रह चुकी है। वह राज्य की भोगविलासी प्रवृत्ति और स्त्रियों के साथ पुरुषों के बर्ताव को उजागर करती है। चेलम्मा माधवी को बार-बार सचेत करती है पर माधवी अपने अहं में अंधी होकर उसकी बात नहीं मानती और इसी कारण उसका परिणाम भी चेलम्मा जैसा होता है।

माधवी खानदानी वेश्या नहीं है, क्योंकि पेरियनायकी नाम की वेश्या उसे किसी व्यक्ति से खरीदा था और अपने संरक्षण में बड़ा किया था, इसलिए माधवी के अन्दर कुलीनों के सारे गुण हैं और वह वैसे व्यवहार का पालन भी करती है जो एक कुलवधू करती है और सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है परन्तु अंत तक एक वेश्या के रूप में ही पहचानी जाती है।

वेश्यावृत्ति जैसे पेशे को तत्कालीन समाज में बड़े-बड़े राजाओं और महाजनों, व्यापारियों द्वारा प्रश्रय दिया जाता था। स्वयं राजघराने के लोग उनके पास जाकर अपना समय बिताते थे या उन्हें अपनी रखैल बनाकर रखते थे। रखैल रखना कुलीनता का परिचायक था। बड़े-बड़े व्यापारी जहाँ भी जाते अतिरिक्त औरतों को मन बहलाव के लिए ले जाते। वेश्याओं एवं नर्तकियों के बिना कोई भी उत्सव अधूरा होता था, यहाँ तक कि हर साल राजनर्तकी चुनने के लिए प्रतियोगिता का आयोजन होता था। अधिकांश व्यापारी की एक रखैल होती थी, उसके बिना उसका वैभव अधूरा समझा जाता था। यहाँ तक कि वेश्यागृह राजनैतिक रहस्यों को छुपाने उन पर विचार करने मंत्रणा लेने के खास स्थान होते थे।

औरतों, खासकर बड़े घराने की औरतों को वंश और कुल के नाम पर शोषित किया जाता था, सम्मान और कुल के नाम पर उनकी इच्छाओं का दमन किया जाता था और ऐसा करने वाले राजा, महराजा या किसी भी पुरुष को तनिक भी अपराध बोध नहीं महसूस होता था। तभी राजनर्तकी

माधवी के कहने पर कोवलन अपने विवाह की पहली रात में कन्नगी को माधवी (वेश्या) की दासी बनाने में तनिक भी संकोच नहीं करता।

"सुहागरात आई। वधू की शृंगार-सज्जा नवयुवतियों के गीत-विनोद और हास-विलास के साथ पूरी हुई। झटके से प्रकोष्ठ का द्वार खुला। सहसा कोवलन उसके पास आया। फिर कोवलन ने कठोरता पूर्वक उसका हाथ पकड़कर झिटकते हुए कहा, "कौन हो तुम?"

वह क्या उत्तर दे?

बोलती क्यों नहीं? "कौन हो?"

कन्नगी को लगा कि अब उत्तर दिए बिना काम नहीं चलेगा। सहमे हाथों से पति के चरण स्पर्श कर उसने कहा, "आपकी दासी।"

—"यही सुनना चाहता था। पत्नी के रूप में पुरुष एक स्त्री को दासी बनाकर अपने घर लाता है, समझी। साधारण स्त्रियाँ साधारण मोल पर हाट में बिकती हैं, ऊँचे कुलों की स्त्रियों को दासी बनाने के लिए सोने-रूपे की थैलियों का मुंह खुल जाता है।"[5]

यही है पुरुष की मानसिकता जिसके लिए स्त्री मात्र उसकी दासी या उसके मनबहलाव का साधन होती है।

कोवलन शुरू से अन्त तक कन्नगी और माधवी के मोह में इधर-उधर डोलता रहा न तो वह कन्नगी से संतुष्ट होता और न माधवी से, क्योंकि उसे किसी में भी पूर्णता दिखाती नहीं देती थी और पुरुष हमेशा पूर्ण की तलाश में भटकता है जबकि पूर्णता संभव नहीं।

'शतरंज के मोहरे'—सन् 1959 ई. में नागर जी द्वारा लिखा वेश्या जीवन पर आधारित उपन्यास है, जिसमें लखनऊ शहर के जीवन को आधार बनाया गया है। मुगल लोगों का स्त्री के प्रति रवैया और अपने भोग-विलास के लिए वे औरतों की जिंदगी का इस्तेमाल कैसे करते हैं इन सब की चर्चा है। उपन्यास की पृष्ठभूमि मुगलकालीन समाज एवं संस्कृति पर आधारित है।

'मुर्दाघर'—(सन् 2000 ई.)—जगदम्बा प्रसाद दीक्षित कृत 'मुर्दाघर' सामाजिक विसंगतियों और विषमताओं का यथार्थपूर्ण चित्रण हैं। वर्तमान अर्थव्यवस्था में जब गाँवों को उजाड़ा जाता है तो कैसे वह भीड़ महानगरों में झुग्गी-झोपड़ियों की रचना करती है और कैसे उनमें अपराध और वेश्यावृत्ति जन्म लेती है उसी का अमानवीय चेहरा मुर्दाघर में दिखता है। उपन्यास बम्बई के कुछ खास

इलाकों को ध्यान में रखकर लिखा गया है जहाँ एक ओर तो सफेद रोशनी वाले महल है तो दूसरी ओर गंदगी में भिनभिनाती या सड़ती जिन्दगी।

वेश्याएं कैसे प्रतिदिन की हाड़तोड़ मेहनत के बाद अपने एक या दो समय के भोजन का इंतज़ाम कर पाती हैं। इसके लिए उन्हें कितने तरह की यातनाएं सहनी पड़ती है, पुरुष उनके साथ कैसे बर्ताव करते हैं, पुलिस एवं न्यायपालिका का उनके प्रति क्या रवैया है आदि बातों से रचनाकार समाज की छिपी सच्चाई को उद्घाटित करते हैं।

वर्तमान समय में स्त्री एक वस्तु, एक मशीन बन गई है जिसे पुरुष अपने भोग-विलास के साधन के रूप में देखता है, या उसे अपनी आमदनी का जरिया समझता है और जब वह इसका प्रतिकार करती है तो उस पर अत्याचार करता है। मैनाबाई और पोपट का संबंध इसी तरह का है। बस स्टॉप पर खड़े-खड़े थक गई मैनाबाई। कोई गुज़रा नहीं। शाम को पच्चीस पैसे थे पास। एक गजरा ख़रीदा और लगा लिया बालों में। हड्डियों के काले ढाँचे पर मोगरे के फूलों का गजरा....काली चमड़ी पर सफेद कोढ़।

पुलिस का इस वेश्याओं के प्रति व्यवहार शारीरिक शोषण तथा मालिकों द्वारा आर्थिक शोषण के अलावा व्यवस्था बनाये रखने वाली पुलिस का इस वेश्याओं के प्रति व्यवहार।

"पुलिस द्वारा किया जा रहे अत्याचार चलते हैं डंडे हवालदारों के। भागती हैं रंडियाँ... लथपथ/पुरानी धोतियाँ फट-फट जाती हैं पैरों में उलझ। रूकना पड़ता है....भागना पड़ता है...दम तोड़कर। सिर्फ पसीना और ज़ोर-ज़ोर से चलती हैं साँसें। पीछे रह जाती है बशीरन/ बढ़ती उम्र... थकता जिस्म/हाथ पकड़ लेता है सिपाही/सड़...सड़ / गिर जाती है ज़मीन पर/पकड़ लेती है पैर /. ..नहीं नहीं/ फिर नहीं आएगी इधर/ मगर रहम नहीं करता सिपाही / घसीटता है.... ले जाता है हवलदार के पास।"[6]

उपन्यास की स्त्री पात्र बेबस, लाचार और जिंदगी से समझौता किए हुए हैं। दीक्षित जी के उपन्यास या कहानी के अधिकांश पात्र निम्न वर्ग के हैं जिन पर समाज में होने वाले परिवर्तन का सबसे अधिक असर होता है। वर्तमान अर्थव्यवस्था पर लेखक तीखा प्रहार करता है जहाँ किसी एक वर्ग की खुशी के लिए दूसरे असहाय वर्ग की जिंदगी से खेला जाता है और उसे नंगा किया जाता है।[3]

वैदिक काल में तो स्वामी दासियों को रखैल के रूप में रखता था लेकिन ऐसे मेल से जन्में संतान

के भाग्य में दासता ही बदी होती थी और वे आजीवन स्वामी की संपत्ति के अंग समझे जाते रहे।[4]

धर्मसूत्रों में अधिकांश स्थानों पर क्रीत स्त्रियों का उल्लेख आया है, जो वेश्या होती थी। पैसे से खरीदी स्त्री को पत्नी नहीं समझा जाता था और देवों या पितरों के लिए यज्ञों में भाग लेने का उसे अधिकार नहीं होता था।

वेदकालीन विवाह संस्था का आभास और कुछ शताब्दियों तक चलने वाले उसके प्रभाव की झलक हमें महाभारत की आरंभिक कथाओं में अधिक स्पष्ट रूप में मिलता है।

प्राचीन काल में स्त्रियों को घर की चारदीवारी में बंद नहीं रखा जाता था। उस युग की स्वतंत्र स्त्रियां अपनी इच्छानुसार विचरण करती थी, और मनमाना देहभोग करती थीं वे विवाह से पहले भी यथेच्छ संभोगसुख का अनुभव करती थी और विवाह के बाद पति के प्रति एकनिष्ठ रहने का आचार भी उस युग में प्रचलित नहीं था। अनेक पुरुषों के साथ संभोग करना उस युग में अधर्म का लक्षण नहीं बल्कि सामान्य लोकव्यवहार माना जाता था। स्त्री-पुरुष के समागम पर किसी प्रकार का बंधन नहीं होना चाहिए, ऐसी उस युग की सर्वसम्मत मान्यता थी। ऐसा आदिम युग में होता था जिसका प्रभाव बाद तक बना रहा।

महाभारत के आदि पर्व में पाण्डु अपनी पत्नी कुंती को सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रेरित करने के लिए नियोग प्रथा का उल्लेख करते हैं।

शाप के कारण या शारीरिक निर्बलता के कारण पाण्डु में सन्तानोत्पत्ति की क्षमता नहीं थी। आर्य संस्कृति में प्रजा वृद्धि की भावना आरंभ से ही महत्वपूर्ण रही है। उसमें भी पुत्र जन्म को इहलोक और परलोक दोनों दृष्टि से अत्यधिक महत्व दिया जाता था। हिंदू संस्कारों में आज भी पुत्रजन्म का महत्व रत्तीभर भी कम नहीं हुआ है।

सन्तान प्राप्ति और विशेष रूप से पुत्र प्राप्ति का-महत्व उन दिनों इतना अधिक था कि शास्त्रों ने 'नियोग' द्वारा पुत्र प्राप्ति की अनुमति दी थी और उसका प्रचलन भी प्रचुर मात्रा में था। पांचों पाण्डव, पाण्डु खुद, उनके भाई धृतराष्ट्र और ख्यातनाम विदुर का जन्म 'नियोग प्रथा द्वारा ही हुआ उसे नंगा किया जाता है।

उपन्यास में पात्रों का सम्बंध किसी एक ही जाति, धर्म और समुदाय से न होकर सभी से है जो आपस में एक ओर अगर झगड़ते हैं, तो दूसरी ओर जान न्यौछावर करने पर भी नहीं चूकते,

क्योंकि सबकी पीड़ा एक सी है और सब पर अत्याचार करने वाला भी एक ही है।

बस्तियों के उजाड़े जाने की प्रक्रिया में जहाँ औरतें भूख से लड़ने के लिए अपना जिस्म बेचती हैं, वहीं पुरुष अपराधी बन जाते हैं और बच्चे या तो भीख माँगते हैं या चोरी करते हैं।

मशीनीकरण के युग में हर व्यक्ति मशीन हो गया है। उसकी संवेदनाएं मर चुकी हैं। इस कारण वे जिन्दा रहते हुए भी मुर्दे के समान हैं। इसीलिए लेखक ने उपन्यास को वेश्याघर न कहकर 'मुर्दाघर' कहा है। मुर्दाघर आज हमारी पूरी व्यवस्था पर एक प्रश्न चिन्ह है।

किसी भी व्यक्ति की नारकीय स्थिति के लिए राज्य कैसे जिम्मेदार है इस पर लेखक प्रकाश डालता है। उपन्यास वेश्याओं के जीवन में गहरे पैठकर लिखा है तभी वे पात्रों की करुणा और संवेदना को गहराई से व्यक्त कर पाये हैं।

पोपट का ट्रेन से कटकर मरना, मरियम के द्वारा बच्चा पैदा करने का प्रसंग, राजू का भिखारियों जैसे खाने पर बार-बार कुत्तों के साथ झपटना, कोढ़ी रोजी द्वारा जब्बार की मदद करना आदि उपन्यास के जीवन्त और मार्मिक प्रसंग हैं।

"दो हमाल / नीली और लाल क़मीज़ें / बता रहे हैं कैसे मरा पोपट /...कुछ सामान था उसका पास / चोरी से लाया / पेला सामान फेंका .... फिर खुद कूदा... चलती गाड़ी से / उधर से आ गया दूसरी गाड़ी .... लोकल ... / इधर उठाके लाया ... तभी भी जान था उसमें / पानी मांगता था बार - बार / कोई नहीं दिया / कौन देगा / पीछू मर गया।"[7]

ऐसा ही अन्त होता है। वर्तमान व्यवस्था में हर उस व्यक्ति का जो भूख से लड़ने के विकल्प के तौर पर चोरी या अपराध करता है। क्योंकि चोरी और वेश्यावृत्ति जैसे अपराध तत्कालिक अभावों के समाधान तो हैं, वहीं खुद अपने आप में एक समस्या है।

प्रेम के जाल में फँसी कोई लड़की कैसे अपने प्रेमी द्वारा इस प्रकार के कृत्य करने को मजबूर होती है और वापस नहीं जाना चाहती क्योंकि समाज तो दूर उसका परिवार तक उसे स्वीकार नहीं करेगा तो यह सामाजिक व्यवस्था की खामियों को दर्शाता है जिसमें एक स्त्री न चाहते हुए भी आजीवन घृणित कार्य करने के लिए बेबस है।

उपन्यास में हिजड़े, भिखारी, अपराधी, वेश्याएं सभी एक-दूसरे की मदद करते हैं क्योंकि इन सभी व्यक्तियों की पीड़ा एक ही जैसी है।

दिव्या—सन् 1945 ई. में लिखा गया 'दिव्या' 'यशपाल का एक ऐतिहासिक और कल्पना प्रधान उपन्यास है। यशपाल प्रगतिवादी मार्क्सवादी रचनाकार है, अतः उनके विचारों की छाप उपन्यास पर किसी प्रकार असंगत नहीं है।

'दिव्या' की कथा में सागल और मथुरा, इन दो नगरों को मुख्य आधार बनाया गया है। सागल तो मद्र की राजधानी और मुख्य घटना स्थल है। इसके बाद मथुरा का स्थान है। इतिहासकार प्रो. राम शरण शर्मा मद्र के सागल को आधुनिक पंजाब के नगर स्यालकोट का प्राचीन नाम बताते हैं। इससे पता चलता है कि घटनाएं और पात्र तो काल्पनिक हैं पर घटना स्थल और युग ऐतिहासिक ही हैं।

'दिव्या' जिस समाज को चित्रित करता है वह सामंती संस्कृति में जकड़ा वर्ण व्यवस्था का कठोरता से पालन करने वाला समाज है, जो नारी की स्वतंत्रता के प्रति उदार नहीं बल्कि रूढ़िवादी है।

—कुलीन ब्राह्मण परिवार में पली-बढ़ी दिव्या शूद्र सेनापति पृथुसेन से प्रेम करती है, प्रेम के आवेग में दिव्या प्रदत्त सामाजिक नैतिकता का उल्लंघन करते हुए पृथुसेन से शारीरिक संबंध बना लेती और गर्भवती हो जाती है। पृथुसेन के पिता की साजिश के परिणाम स्वरूप एक अन्य स्त्री सीरो पृथुसेन के निकट आ जाती है। और पृथुसेन से मिल पाने में असमर्थ दिव्य का अपहरण हो जाता है। वहाँ से निकलने के बावजूद दिव्या परिवार तथा समाज द्वारा अपमानित होने एंवं ठुकराए जाने के भय से घर नहीं जाती बल्कि शरण के लिए बौद्ध विहार का द्वार खटखटाती है।

विहार में जाकर दिव्या को निराशा ही हाथ लगती है क्योंकि दिव्या को दीक्षित करने या शरण देने से यह कहकर इंकार किया जाता है कि वह स्वतंत्र नहीं है। यदि वह किसी की पुत्री, पत्नी या मां है तो अपने स्वामी से अनुमति आवश्यक हैं—

"स्थविर ने अपने झुके हुए नेत्र उठाए। दारा की ओर देखकर वे बोले, देवी धर्म के नियमानुसार स्त्री के अभिभावक की अनुमति बिना संघ स्त्री को शरण नहीं दे सकता।"[8]

इस पर दिव्या जब आम्रपाली का उदाहरण देती है कि—"परन्तु देव। भगवान तथागत ने तो वेश्या आम्रपाली को भी संघ में शरण दी थी।"

स्थविर—वेश्या स्वतंत्र नारी है, देवी।"[9]

इस प्रकार बौद्ध विहार द्वारा ठुकराए जाने के बाद पुत्र के प्रेम और उसकी सुरक्षा के लिए दिव्या

दासी का काम करती है लेकिन अंततः पुत्र की मृत्यु के बाद उसे नर्तकी अंशुमाला शरण देती है और दिव्या भी उसी मार्ग पर चल पड़ती है। दिव्या अंशुमाला के साथ रहकर नृत्य जरूर करती है पर मन से अभी भी वह पृथुसेन से प्रेम करती है, और उसे भुला नहीं पाती। वह किसी और को अपना शरीर समर्पित नहीं करती।

ऐसा करने पर भी दिव्या को ब्राह्मण समाज अपवित्र मानता है और मौका आने पर भी स्वीकार नहीं करता। यहाँ तक कि पृथुसेन भी उसे नहीं अपनाता। तब उसका भ्रम दूर हो जाता है और झूठे प्रेम और मर्यादा को तोड़कर वह माताल मारिथ को स्वीकार कर लेती है—कुमार मारिथ कहता है कि—"वह संसार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक हैं। वह देवी के नारीत्व की कामना में अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान प्रदान चाहता है।

भूमि पर बैठी दिव्या अनेक क्षण विचर में ग्रीवा झुकाए बैठी रही फिर उसने आश्रय छोड़कर दोनों बाहु फैला दिए और कहा—आश्रय दो आर्य!" [10]

सामाजिक संरचना और स्त्री-पुरुष संबंधों के अंकन के लिहाज से दिव्या अत्यंत महत्वपूर्ण उपन्यास है। दिव्या से शारीरिक संबंध स्थापित कर चुकने के बाद पृथुसेन दूसरी स्त्री की ओर आकृष्ट हो जाता है। पुरुष के प्रेम में अपने को समर्पित कर देने वाली दिव्या को न सिर्फ प्रेमी का सहारा नहीं मिलता, बल्कि दुनिया का हर दरवाजा उसके लिए बंद हो जाता है। वर्ण-जाति के प्रसंग में अत्यंत क्रान्तिकारी भूमिका निभाने वाला बौद्ध धर्म स्त्री के सवाल पर पितृसत्ता का समर्थक बन जाता है। दीन-हीन अपमानित और लांछित स्त्री दिव्या को पूछने और उसकी खोज ख़बर लेने वाला कोई नहीं है, लेकिन जब उसकी पवित्रता प्रमाणित हो जाती है और वह शोहरत की बुलन्दियों को पा जाती है तो सभी उसके लिए पथ व पाखण्ड बिछाने लगते हैं जिनमें बौद्ध धर्म और पृथुसेन भी शामिल है।

शृंखला की कड़ियाँ—सन्-1942, (आलोचनात्मक लेखों का संकलन) महादेवी वर्मा छायावादी और नारीवादी कवियित्री हैं जिनकी रचनाओ में स्त्री मुक्ति के स्वर हैं। मीराबाई के बाद स्त्रीमुक्ति के स्वरों को दिशा देने का काम महादेवी वर्मा करती हैं, उन्होंने अपनी रचनाओं में समाज के दबे कुचले शोषित या हाशिए पर डाल दिए लोगों को नायक बनाया और उनकी समस्याओं को अपनी रचनाओं का विषय।

शृंखला की कड़ियाँ (1942 ई.) ऐसी ही दमित एवं शोषित नारियों की पीड़ा की कथा कहती है।

महादेवी नारीवादी तो हैं पर प्रतिक्रियावादी नहीं क्योंकि उन्हें ऐसा लगता है, पुरुषसत्तात्मक समाज में उनसे लड़कर नहीं बल्कि सामञ्जस्य बैठाकर चलना चाहिए वरना रूढ़िवादी समाज स्त्री के विद्रोह को कुचल देगा।

महादेवी जी कहती हैं–"अन्याय के प्रति मैं शुरू से असहिष्णु रही हूँ, परन्तु ध्वंस के लिए ध्वंस के सिद्धान्त में मेरा कभी विश्वास नहीं रहा।" [11]

महादेवी ने स्वतंत्रता आंदोलन के दिनों में इस रचना को आकार दिया जिसमें भिन्न-भिन्न कारणों से सिसकती हुई नारी की समस्याओं के कारण एवं समाधान की खोज की है।

अन्य समस्याओं की तरह वेश्यावृत्ति की समस्या पर भी उन्होंने 'जीवन का व्यवसाय' नामक लेख के माध्यम से प्रकाश डाला।

महादेवी वेश्याओं को घृणा का पात्र न मानकर उन्हें सम्मानित नारी मानती हैं जो पुरुष की वासना के कारण बलि का बकरा बन गई है, 'इन स्त्रियों ने जिन्हें गर्वित समाज पतित के नाम से सम्बोधित करता आ रहा है, पुरुष की वासना की वेदी पर कितना घोरतम बलिदान दिया है।"[12]

महादेवी ने पुरुष की उस मानसिकता को समझा जिसके कारण उसने वेश्या बनाकर किसी स्त्री के जीवन को तबाह किया।

'उसने कहीं इस स्त्री को देवता की दासी बनाकर पवित्रता का स्वांग भरा, कहीं मंदिर में नृत्य कराकर कला की दुहाई दी और कहीं केवल अपने मनोविनोद की वस्तु बनाकर अपने विचार में गुण ग्राहकता ही दिखाई।"[13]

पुरुषों ने स्त्रियों की कोमल भावनाओं का पता पाकर कैसे दासी बनाकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति की, इसकी खोज महादेवी इतिहास में जाकर करती है।

आदिम युग से ही नारी ने यह स्वीकार कर लिया था कि पशुबल में वह पुरुष से आगे नहीं इसलिए उसने पुरुष की शक्ति को स्वीकार कर लिया और पुरुष के प्रति प्रतिद्वंदिता का भाव न रखकर अपने केशों के फूलों, कानों की कलियों के गुच्छों तथा अपने नारीत्व प्रधान भावों से पुरुषों को जीतने की कोशिश की।

नारी की मुक्ति समर्पण में है विद्रोह या संघर्ष में नहीं इसी बात को नारी ने स्वीकार कर पुरुष की हर इच्छा को परवान चढ़ाने के लिए अपनी इच्छाओं की बलि चढ़ाई पर उसके बदले में उसे न

तो पद ही मिला और न अधिकार।

इन दबी कुचली एवं समाज से बहिष्कृत स्त्रियों (वेश्या) को सहानुभूति देकर हमें अपने कर्त्तव्यों को पूरा हो गया नहीं समझना चाहिए, बल्कि इसके व्यवहारिक रूप को देखकर इसका समाधान खोजना चाहिए क्योंकि कोई भी सामाजिक प्राणी अपने स्वार्थ के लिए किसी अन्य के हितों की हत्या नहीं कर सकता।

क्या मुझे ख़रीदोगे—2005 में प्रकाशित यह उपन्यास एक स्त्री के वेश्या बन जाने की कहानी को मार्मिकता से व्यक्त करता है। मोहनदास नैमिशराय द्वारा लिखा यह उपन्यास बम्बई महानगर के जीवन को आधार बनाकर लिखा गया है जहाँ हर कोई बिकने को तैयार है। फर्क केवल इतना ही है कि कुछ अपनी बोली स्वयं ही लगा लेते हैं और कुछ दूसरों से अपने को नीलाम कराते हैं।

औद्योगीकरण के युग में इंसान कितना मशीनी हो गया है कि वह अपने ईमान को बेचने में भी हिचक नहीं करता है उपन्यास इसका उत्तम उदाहरण है। सरिता इस उपन्यास की मुख्य पात्र है, जिसे उसका प्रेमी प्रेम के झूठे वादे करके भगाकर बम्बई ले आता है और उसके सामानों को हथियाने और जिस्म से खेलने के बाद स्टेशन पर ही सरिता को छोड़कर भीड़ में गुम हो जाता है। बहुत बंर्ब यानी नये शहर में समंदर के किनारे रमेश नाम के व्यक्ति से मुलाकात होती है, जो स्वयं लेखक है। भटकने के बाद वह व्यक्ति उसे सहारा देता है पर थोड़े ही समय बाद प्रकाशनक के कारण रमेश का घर छोड़ कर चली जाती है और उपन्यास की नायिका आत्मनिर्भर होकर जीना चाहती है। वह कुछ कहानियां भी लिखती है ऐसे समय पर मीरा नाम की अन्य महिला उसे गलत रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करती है हालांकि मीरा भी स्वतंत्र रूप में जीना चाहती है इसलिए वह बार-बार कहती है कि वह अपना जिस्म अपने तरीके से क्यों न बेचे यही फर्क है नायिका और सह-नायिका (मीरा) में। नायिका आत्म सम्मान से जीना चाहती है जबकि मीरा अपने आपको बेचने में कोई शर्म महसूस नहीं करती है। लेकिन दुखद स्थिति यही होती है कि स्वयं नायिका न चाहते हुए भी गलत राह पर आ जाती है। पर धीरे-धीरे जैसे-जैसे सरिता को समझ आती है उसके भीतर द्वंद्व होता है वह क्या कर रही है? किस राह पर जा रही है? ऐसे सवाल उसे परेशान करते हैं। अंततः वह शरीर बेचने के खिलाफ स्वयं विद्रोह करती है साथ ही मीरा को भी यह सब छोड़ने के लिए कहती है। यही उपन्यास का मूल और सकारात्मक उद्देश्य भी है। उनके बीच मन मुटाव होने लगता है।

महानगरीय जीवन में एक अकेली असहाय स्त्री को लोग किस नजर से देखते हैं और किस तरह उसका हर प्रकार से शोषण करना चाहे है, उपन्यास को बखूबी दिखाता है। यहां तक कि पढ़े-लिखे लोग भी स्त्री को मात्र मनबहलाने की वस्तु समझते हैं।

पुरुष प्रधान समाज में महिलाओं की स्थिति दूसरे नागरिक जैसी रही है। घर से भागी हुई महिलाओं की पीड़ा दुःख और परेशानियों का चित्रण जद्दोजहद के साथ इस उपन्यास में किया गया है।

आज बाजार बंद है (2004 ई.)—नैमिशराय जी का ही वेश्या जीवन पर लिखा यह उपन्यास वेश्या जीवन की त्रासदी को व्यक्त करता है। उपन्यास उ. प्र. के एक क्षेत्र इबादतपुर को आधार बनाकर लिखा गया है।

उपन्यास के माध्यम से लेखक वेश्यावृत्ति एवं देवदासी जैसी कुप्रथा पर प्रकाश डालते हैं। पार्वती नाम की वेश्या उपन्यास के नायक सुमीत (जो पत्रकार है) को बताती है कि वह एक दलित स्त्री है और उसके गांव में दलित और कुंवारी स्त्रियों को भगवान की भेंट करते हैं, यह भेंट एक उत्सव के रूप में होती है, जिसमें भगवान के साथ दलित स्त्री का विवाह होता है। पर उसका उपभोग भगवान नहीं बल्कि उस गांव का सबसे सशक्त व्यक्त करता है। इस प्रकार वह धीरे-धीरे कइयों की वासना को बुझाते या तृप्त करते करते सार्वजनिक हो जाती है फिर या तो वह स्वयं या उसके मां बाप उसकी बोली लगाकर बम्वई जैसे महानगरों में बेच देते हैं।

एक तो दलित उस पर भी स्त्री होना हम अभिशाप समझते हैं।

धर्म के नाम पर स्त्रियों का कैसे शोषण किया जाता है यह उपन्यास का महत्वपूर्ण पहलू है।

उपन्यास में एक विशेष बात है कि इसमें सभी वेश्या पात्र काफी जागरूक हैं। वे पढ़ी लिखी समझदार और संवेदनशील हैं। यहाँ तक कि वे इसी पेशे से जिंदगी भर चिपके नहीं रहना चाहती उनके अन्दर चिंगारी है जो कभी भी विस्फोट कर सकती है। वेश्याएं डायरी भी लिखती हैं जो उनके दुःखों का प्रत्यक्ष दस्तावेज है तथा उसने खालीपन को दूर करता है।

लेखक ने वेश्याओं के प्रति पुलिस के बर्ताव को बखूबी दिखाया है और यह भी बताने की कोशिश की है कि छोटे से लेकर बड़े स्तर तक के अधिकारी इस पेशे को चालू रखने में कैसे शामिल है।।

"आधी रात बीत गई थी। सब सोए हुए थे कि बाहर से कोठे का दरवाजा खटखटाने की आवाज

आई।''

कौन है?

उधर से दरवाजा पीटते हुए कोई कह रहा था',

दरवाजा खोल, दरवाजा खोल....।

पार्वती ने दरवाजा खोला तो सामने इंस्पेक्टर भानु प्रताप सिंह खड़ा था।

उसकी आँखें लाल थीं। नशे में धुत वह बड़बड़ा रहा था,

'स्साली इतनी जल्दी दरवाजा बन्द कर लिया। तुझे पता नहीं मुझे आना था आज इधर।'

पार्वती का स्वर उभरा था।

'तू जा इंस्पेक्टर, रात बहुत हो गई है। यह सब अच्छा नहीं। तभी आंखें तरेरते हुए इंस्पेक्टर ने कहा था, क्या अच्छा नहीं? चल मेरे साथ बिस्तर पर।

इंस्पेक्टर अभी तू जा यहाँ से।

'क्या तू जा, तू जा बकवास कर रही है। तुझे पता नहीं मैं इस एरिये का पुलिस इंस्पेक्टर हूँ। अगर कोई ग्राहक आता तो अभी तू कपड़े उतार देती।''[14]

इसी प्रकार इंस्पेक्टर बहुत देर तक उससे जोर जबरदस्ती करता है, पर वह नहीं मानती। अंत में तंग आकर इंस्पेक्टर उसे घसीट कर ले जाकर हवालात में बंद कर देता है।

तो ऐसा है हमारे रक्षक कहलाने वालों का चरित्र जिसे लेखक खुलकर सामने लाता है।

लेखक ने वेश्याओं को राष्ट्र की बेटी कहकर उनको सम्मान भी दिया है। वेश्याओं में अक्सर एकता का अभाव होता है पर नैमिशराय जी ने उपन्यास में वेश्याओं की एकता और पार्वती की गिरफ्तारी पर वेश्याओं द्वारा थाने को घेरकर पथराव कराने जैसी एक प्रगतिशील सोच का विकास किया है।

राजनेता किसी भी समस्या का राजनीतिकरण करके उसे समाधान को भविष्य के गर्त में डाल देते हैं इस पर लेखक ने कटाक्ष किया है। उन्होंने दिखाया है कि संसद में समस्याएं तो रखी जाती हैं पर वाद-विवाद के कारण उसका निष्कर्ष नहीं निकल पाता और रह जाती है समस्या 'ढाक के तीन पात' की तरह। नैमिशराय जी ने समस्या को गम्भीरता से समझा है और इसके लिए जिम्मेदार ठहराया है हमारी न्यायव्यवस्था और समाज को। पर इन दोनों में सुधार लाना संभव नहीं इसलिए

स्वयं वेश्याओं को क्रांतिकारी कदम उठाकर इस कुवृत्ति के खिलाफ लड़ना होगा। यही इसका समाधान है।

यह उपन्यास अन्य उपन्यासों से इस मामले में अलग है कि लेखक जद्दोजहद के साथ यह बात उठाता है कि वेश्यावृत्ति बन्द होनी चाहिए और स्वयं वेश्याकर्म में लिप्त महिलाओं को सम्मानपूर्वक जीने के लिए विद्रोह करना चाहिए।

अपने-अपने पिंजरे (भाग-1) मोहनदास नैमिशराय—नैमिशराय जी की आत्मकथा में भी वेश्याओं के जीवन का चित्रण हुआ है। शायद इसलिए कि मेरठ मुस्लिम बहुल शहर रहा है। वहां के बाजारों में नाचने वाली के साथ पेशा करने वाली औरतें भी होती थी।

वेश्याओं के पास पुरुषों के जाने के अलग-अलग कारण भी रहे हैं। उदाहरण के लिए स्वयं आत्मकथाकार अपने भाई के बारे में जिक्र करते हैं।

"भइया विवाह के बरसों बाद भी नपुसंक ही रहा। बरसों दवाई की, पर परिवर्तन कुछ भी नहीं हुआ। हाजी के पास भी ताई मां ने बड़े भाई की दवाई के लिए जाना शुरू किया था।....कभी-कभी ताई मां और बा दोनों जानकी भइया के बारे में बातें करते थे। मैं उनकी बातें चुपके हो सुन लेता था उन्हीं से पता चला था। जानकी को वे रण्डी के पास भी भेजते थे। पर अंत तक यह बात साफ नहीं हुई थी कि वे स्वयं अपनी मर्जी से भइया को भेजते थे या बस्ती के रण्क-दो लोगों के कहने पर। उनमें आसाराम और कांती प्रमुख थे। कभी-कभी उनमें से कोई एक या कभी कभी वे दोनों ही भइया को रंडी के कोठे पर ले जाते थे। वे अकसर हमारे घर आते थे। मुझे यह बात काफी समय तक समझ न आई थी कि कि रण्डियां आखिर भइया का कौन-सा इलाज करती थीं।....वे रण्डी से पहले ही साफ-साफ बतला देते थे। कुछ समय तो रंडी कोशिश करती थी पर जब भइया से कुछ न होता तो गालियां देकर भगा देती। वे लोग कोठे से उतर आते पर हर कोठे पर वही कहानी। यह उनका प्रयोग भी था और बड़े भइया को मर्द बनाने का तरीका भी। पर बड़ा भइया मर्द होकर भी कभी मर्द नहीं बन सका था। उनके नामर्द होने की बात आरंभ में कम ही लोगों को मालूम थी। बाद में समूची बस्ती को यह सब पता लग गया था।....बड़े भइया ठीक हो जाए, इसके लिए ताई मां भला कहां कहीं नहीं गई थी। वैघ से डाक्टर और हाजी से मौली तक। गंडे-तावीज भी लाई। पढ़ा हुआ पानी भी।"[15]

नैमिशराय जी ने शहर के मुस्लिम समाज के पहलवानों तथा रसिकों के साथ वेश्याओं के

सम्बन्धों को भी उजागर किया है।

"वे रात की रोटी का टुकड़ा शोरबे में डुबोकर ही खाते। शाम होते-होते ढाके की मलमल का कुरता और तहमद बांधे रंडियों के कोठों पर पहुँच जाते थे। उधर अतिशदान में उजाला होते ही रंडियों के घुंघसंबंधों पांव थिरकने लगते थे...पूरे शहर में रण्डियों के दो ही बाजार थे। बैली बाजार और नील गली का बाजार। पहला महंगा बाजार दूसरा सस्ता बाजार। बैली बाजार में तथाकथित जमींदार, नवाब, प्रोफेसर, वकील, नेता, व्यापारी जाते थे। नील की गली में रिक्शेवाले, तांगें वाले, नाई, धोबी, तेली, भड़बूजे—खाज वाले कुत्ते की तरह खुजाते-खुजाते पहुँच जाते थे और छोटी छोटी सुरंगों में घुसकर अपनी खाज मिटाते थे।"[16]

ऋषियों की रंगरेलियाँ—अप्रैल 2003 डा, राम स्वरूप संखवार का एक सार गर्भित उपन्यास है जिसमें महाभारत कालीन नियोग प्रथा पर प्रकाश डाला गया है। नियोग प्रथा के अनुसार—जो राजा या कुलीन व्यक्ति अपनी पत्नी से बच्चा पैदा करने में समर्थ नहीं होते थे वे अपनी पत्नी को ऋषि-मुनियों के सानिध्य में छोड़कर उनसे बच्चा पैदा करवाते थे। इस प्रकार ऋषि मुनि नपुंसकों का वंश चलाने में माध्यम का काम करते थे। इस प्रथा के माध्यम से उपन्यासकार ने उच्च एवं कुलीन कहे जाने वाले लोगों के काले कारनामें एवं छिपी सच्चाई को लोगों के सामने लाया है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को आधार बनाकर लिखे गए इस उपन्यास में नीलगढ़ की राजकुमारी जिसे उसका पिता साम्राज्य विस्तार की लालसा से ऋषियो को अर्पित करना चाहता है परन्तु राजकुमारी इसके लिए तैयार नहीं है और उसे लेने आए सेनापति से संवाद करती है—

"राजकुमारी —'तुम कायर हो सेनापति। तुम यह जानते हो कि साठ वर्ष के बूढ़े ऋषि वृषभ को मुझे अर्पित करने की तुम्हें राजाज्ञा मिली है।' क्या तुम उचित समझते हो कि मैं उस साठ वर्ष के ऋषि की कामुक हवस का शिकार बनूं?
उस कामासक्त, निकृष्ट ऋषि को मैं जानती हूँ। मेरे जैसी अनेक राजकुमारियां उस ऋषि को समर्पित की जा चुकी हैं और अब वे ऋषि आश्रम में रहकर उन तमाम तमाम श्रेष्ठियों और सैर सपाटे को निकले उन राजाओं की कामुक हवस की शिकार हैं जिन से ऋषि को अपार धन मिलता है।

सेनापति बोला—ऋषिवर आपको अपनी पत्नी बनाना चाहते हैं।

राजकुमारी – भोले सिपाहियों। तुम नहीं समझते सोचो। क्या यह किसी प्रकार संभव है कि कोई लड़की ईश्वर के नाम पर अविवाहित बनी रहे? इसलिए धर्म के नाम पर मुझे दुष्ट ऋषि की कामवासना का शिकार होने से बचाओ।''[17]

प्राचीन काल से चली आ रही समस्या खत्म तो नहीं हुई पर उसका रूप बदल गया है।

उपन्यास में उस समय का चित्रण है जब बड़े-बड़े आश्रम वेश्यावृत्ति के अड्डे बने हुए थे और सामान्य आदमी की पहुँच से दूर थे। जहाँ एक ओर आश्रमों में इस प्रकार के कृत्य होते थे वही राजमहल में भी गुप्त रूप से वेश्यावृत्ति चलती रहती थी।

''ऋषि वृषभ के आश्रम में, अपनी मर्जी के प्रतिकूल बहुत सारी राजकुमारियां रखी गई हैं। यह सभी राजकुमारियाँ ईश्वर के नाम पर लाई गई हैं। जो अब आश्रम की आय की स्रोत हैं। आज से ठीक तीन दिन बाद आश्रम में एक जलसा होगा। जिसमें सभी बड़े-बड़े राजे-महाराजे बुलाये जायेंगे, जो उन राजकुमारियों को अपनी वासना का शिकार बनाएंगे।''[18]

इस प्रकार धोखे से या स्वेच्छा से लाई गई स्त्रियों को ऋषि मुनि पहले तो अपनी हवस का शिकार बनाते, फिर उनको आश्रम में आने वाले राजा-महाराजाओं को धन या मुद्रा के बदले भोगने के लिए सौंप देते। इस प्रकार आश्रम में रहने वाली इन स्त्रियों को भोजन एवं वस्त्र के बदले ऋषि मुनियों एवं राजा-महाराजाओं की कुत्सित इच्छाओं को पूरा करना होता था। सन् 1960 ई. में लिखा अमृतलाल नागर का रिपोर्ताज 'ये कोठे वालियाँ' वेश्या जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालता है। रिपोतार्ज की पृष्ठभूमि लखनऊ जो 'नवाबों का शहर' कहा जाता है पर आधारित है जिसमें लखनऊ शहर और उसके प्रसिद्ध मोहल्ले चौक की जीवन्त, छलकती जिन्दगी का वर्णन है।

नागर जी के लेखन के लिए कोई भी समाज उपेक्षित तथा घृण्य नहीं था। इस दृष्टि से देखें तो नागर जी लेखन एक भारी चुनौती बनकर सामने आता है। वेश्या किसी समाज का कोढ़ ही स्वीकार की जाती है तथा मानव समाज उसके प्रति हमेशा ही उपेक्षा का रवैया अख़्तियार करता रहा है। किन्तु नागर जी ने संगीत, कला तथा अभिनय दक्षता को 'ये कोठे वालियाँ' में जिस प्रकार निरूपित किया है वह साहित्य की अपनी अलग ढंग की विशिष्टता बन गई है।

नागर जी ने रिपोतार्ज को कई शीर्षकों के माध्यम से पूरा किया है जिसमें वेश्या जीवन पर अलग-अलग ढंग से प्रकाश डाला गया है।

पहले शीर्षक 'बचपन महफिलें और वेश्या का बेटा' में उन्होंने पुरुष की उस मानसिकता पर खेद प्रकट किया है जो स्त्रियों को गुलाम और असहाय समझती है। और वह स्वयं के कमजोर होने या घर का खर्च न चला पाने की हालत में अपनी स्त्री को आय का साधन मानकर उसके शरीर की नीलामी करता है। उस पुरुष की मानसिकता इतनी रुग्ण हो जाती है कि अपनी पत्नी के लिए वह स्वयं ही ग्राहकों की तलाश कर घर लाता है और उनके बाहर निकलने तक इंतजार करता है।

इसमें दोष उस सामाजिक संरचना का है जो एक स्त्री के स्वयं के शरीर का अधिकार भी पुरुष के हाथ में सौंप देती है जो उसके शरीर को सुरक्षा प्रदान करने लायक ही नहीं।

विवाह के बाद एक स्त्री के सारे अधिकार पुरुष के हाथ में आ जाते हैं जिस कारण मुसीबत पड़ने पर वह उसके शरीर का इस्तेमाल नकारात्मक रूप में करने में भी नहीं हिचकता। इस प्रकार की बातें विवाह जैसी प्रथा पर प्रश्न चिन्ह और उसकी खामियों को दिखाती है।

आगे के शीर्षक में नागर जी बद्रेमुनीर नाम की वेश्या का जिक्र करते हैं जिसे एक व्यक्ति बद्रेमुनीर के बाप से यह कहकर खरीद लाता है कि वह उससे शादी करेगा। उस गांव की प्रथा के अनुसार वह बद्रेमुनीर की कीमत चुकाकर उसे शहर लाकर पहले से अधिक दाम पर कोठे पर बेच देता है और वह विद्रोह नहीं कर पाती क्योंकि वह उसका पति है। वेश्यावृत्ति करने के कुछ सालों बाद जब वह 'बड़ी माता निकलने के कारण बीमार हो जाती है और पैसे कमाने या ग्राहकों को लुभाने में असहाय होती है तो उसकी मालकिन उसे कोठे से बाहर निकाल देती है जहां से वह दूसरे कोठे पर पहुंच जाती है और बीमार होने के बावजूद शरीर बेचती है क्योंकि उसके पास यहां रहने का अन्य कोई विकल्प नहीं। दवा-दारू के अभाव में उसकी हालत और भी नाजुक हो जाती है और एक दिन उसकी मृत्यु हो जाती है। उसकी मृत्यु का वह दृश्य बड़ा ही भयानक है जिसे देखकर कठोर से कठोर दिल आदमी भी पिघल जाए। उसका शव इतना वीभत्स हो गया है जिसे देखकर रूह काँप सी जाती है—ये है वेश्या जीवन का अन्त

"कफन हटाकर दढ़ियल ने मुँह दिखाया। मेरे मुँह से बेसाख्ता चीख निकल गई। चार रोज पहले देखा हुआ चेहरा भी अब जान न पड़ता था—आधार दाहिना गाल, नीचे का आध होंठ, ऊपर का पूरा होंठ, नाक के नकसारों तक तीन ही दिन में सड़कर गायब हो चुका था।"[19]

यह अन्त मात्र बद्रेमुनीर का ही नहीं बल्कि वेश्या बनने वाली अधिकांश औरतों का है जो आख़िर

समय में ऐसी ही मौत मरती हैं।

नागर जी ने उन पेशेवर औरतों पर भी प्रकाश डाला है जो गाने बजाने जैसी कला से लोगों का मनोरंजन करती है।

इन सभी के अलावा वे अन्त में दिखाते हैं कि समाज के बुद्धिजीवी लोगों ने इनके लिए क्या किया और आगे बताते हैं कि उनके सुधार के लिए तो प्रयास हुए पर उन्मूलित करने के लिए किसी ने भी कोई आंदोलन नहीं चलाया। अगर ऐसा किया जाता तो आज यह समस्या इतना विकराल रूप नहीं धारण कर लेती।

वेश्या जीवन से सम्बद्ध कहानियाँ—वेश्या वृत्ति जैसी ज्वलंत समस्या को अधिकांश रचनाकारों ने अपने लेखन का विषय बनाया। मात्र उपन्यासों के माध्यम से ही नहीं बल्कि कई विधाओं के माध्यम से इसको प्रकाश में लाया गया है जिसमें कहानी एक मुख्य विधा है।

गुलाब जल गेडेरियाँ—सामाजिक संरचना पर प्रश्न चिन्ह लगाती या उसकी खामियों को उगाजर करती यह कहानी प्रकाश डालती है कि किस प्रकार एक निम्न वर्गीय परिवार में पति की मृत्यु हो जाने पर समाज तो समाज, उसके घर एवं परिवार के लोग कैसे उसे यातना देते हुए मजबूर करते हैं वेश्यावृत्ति जैसे घृणित पेशे की ओर जाने के लिए। जब वह इस पेशे में आ जाती है और पैसे कमाती है शरीर के साथ देने तक। पर जैसे ही वह बूढ़ी या बीमार हो जाती है लोग उसको देखने तक में अपनी बेइज्जती समझते हैं। सच कहते हैं कि पहलवान और वेश्या का बुढ़ापा एक सा होता है।

कृष्णा सोबती की यह कहानी एक वेश्या की मनोदशा का चित्रण करती है। जो बुढ़ापे में इतनी असहाय है कि बस अपने बीते दिनों को याद करती है—

"धन्नो ने हड्डियों की मूठ-सी अपनी देह पर लड़की-सा हाथ फेरा, पपड़ी जमे ओठों पर सूखती-ऐंठती सी जिह्वा फेरी और निढाल होकर कटोर की नाली के पास जा लगी। प्रेत की छाया पर दो बेरंग ढीले स्तन और उन पर दो काले धब्बे से निशान। धन्नों की आँखों ने नहीं, धन्नों के इस वक्ष ने कटरे के सिर पर से गुजरते समय को देखा था।" [20]

धन्नो एक गरीब वेश्या है इसलिए उसके पास आने वालों का स्तर भी वैसा ही है जिनमें घोड़ागाड़ी, बैलगाड़ी रिक्शा वाले या मजदूर अपनी गंदी बदबूदार देह लेकर उसके पास आते हैं। उसने

आज तक किसी गोरी देह वाले मर्द या पुरुष को छुआ ही नहीं, जिसे छूने की लालसा आज भी उसके मन में है।

'उसने एक बार कटरे के बाहर एक पति-पत्नी को एक साथ कपड़ा खरीदते देखा था। बढ़िया कीमती कपड़े और उनमें चमकते हुए दो चेहरे। धन्नो ठिठककर रह गई थी। उसकी प्यासी आंखें स्त्री के रंगीन कपड़ों पर नहीं, पुरुष के साफ हाथों पर जाकर अटक गई थीं। वह देर तक निष्प्रभ-सी खड़ी उन दो बाहों और हाथों को देखती रह गई थी। इतनी स्वच्छ देह....केसी लगती होगी, कैसी लगती होगी यह छूने से।''[21]

वेश्या जीवन किसी स्त्री को इस कदर प्रभावित करता है कि उठते-बैठते सोते-जागते भी उसे शरीर, मांस, दलाल, ग्राहक, पैसा यही सब दिखाई देता है।

धन्नो ही नहीं किसी भी वेश्या की जिन्दगी ऐसे ही शब्दों के इर्द-गिर्द घूमती रहती है।

वेश्या बनने में उतना कष्ट नहीं होता जितना उसका परिणाम भोगने में जैसा कि धन्नो और बद्रेमुनीर भोगती हैं और अगले जनम में ऐसी जिंदगी न जिए इसके लिए भगवान से प्रार्थना करती हैं।

फातिमाबाई कोठे पर ही नहीं रहती–चित्रा मुद्गल–किसी भी औरत के वेश्या बनने के कारण लगभग एक से ही हैं पर परिस्थितियां अलग अलग होती हैं। ऐसी ही एक परिस्थिति पर लेखिका प्रकाश डालती है। जब एक बच्ची दसवीं कक्षा में फेल होने पर घर वालों की मार की डर से घर नहीं आती और स्टेशन पर खड़ी ट्रेन में बैठ जाती है। उसे पता नहीं कि वह ट्रेन कहाँ जाएगी? फिर भी मार का डर इतना भयानक है कि वह अपने भविष्य में आने वाले संकट की चिंता नहीं करती और इस प्रकार वह ऐसे गिरोहों के चंगुल में पड़ जाती है कि जो उसे कोठे पर बेच देते हैं और कोठे पर पहुँचकर वह शैला से केतकी बन जाती है।

लेखिका ने इसके साथ ही पुलिस और मालकिन के सम्बंधों को दिखाया है कि किस प्रकार पुलिस की मिली-भगत में यह धंधा जारी है। साथ ही बुद्धिजीवी कहे जाने वाले और समाज सुधार का डंका पीटने वालों की पोल खोली है, जो सिद्धान्त में तो बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं पर अवसर आने पर किसी भी प्रकार के विवाद से खुद को अलग कर लेते हैं।

चित्रा मुद्गल ने आगे पुरुषों की उस मानसिकता को दिखाया है जो स्त्री के साथ जानवर बनने

से बाज नहीं आता क्योंकि उसे उसको पैसे देकर कुछ घंटों के लिए खरीद लिया है। इसका एक प्रसंग–

मैडम पत्रकार जब कोठे पर जाकर वेश्याओं से मिलती है तो रेशमा उन्हें उसके कोठे तक पहुँचने की कथा सुनाती है और कहती है कि वह यहाँ सुखी है इसी पर एक अन्य वेश्या केतकी बिफर उठती है–

''हरामजादी डायलॉग मारती है, झूठ बोलती है झूठ! 'सुख की बात करती है...इधर सुखी है? ऐसे बोलती है जैसे इधर आने वाले राजाराम के अवतार हैं।

दिखाऊं इस नरक की सड़न को? देख! उसने आँचल हटा अपने ब्लाउज के बटन 'चट-चट' खोल दिए। उसके मातृत्व से भरे-भरे उघड़े नील और खरोंचों से विक्षत स्तन बाहर लटक आए।''[22]

आगे वह बताती है कि ''मालकिन का एक चहेता ग्राहक है, भट्ठी चलाने वाला जोसफ। लगभग हर रात वह धुत होकर उसके पास आता है। वह कोई बात नहीं मगर जिस नृशंसता और कामुकता से वह उसकी देह से खिलवाड़ करता है, उसकी गवाह ये छातियाँ हैं। वह फातिमाबाई से कितने दफे रोई पर घुड़क देती है कि एक रात के पंद्रह रूपल्ली थमाता है जोसफ।''[23]

थोड़े से पैसों के लिए वे जोसफ जैसे न जाने कितनों की अमानवीयता को खून का घूंट समझकर पी लेती हैं।

लेखिका पत्रकार के रूप में पूरी कहानी में मौजूद है यहाँ तक कि जब शैला घर से भागकर ट्रेन में बैठती है तो वह उसी डिब्बे में पहुँच जाती है जिसमें पत्रकार महोदया होती हैं। शैला के पास पैसे न होने की वजह से टिकट चेकर से कुछ-कुछ विवाछ होता है फिर भी लेखिका उस बच्ची की मदद नहीं करती–

''उसने फौरन दुविधा को झटककर अंतर्द्वंद्व के कपाट बंद कर दिए और चेहरे पर सख्त अपरिचित भाव ओढ़कर उस महिला पत्रिका में अपने को तल्लीन कर लिया, जिसमें आदिवासी महिलाओं के बीच प्रगति कर रहे साक्षरता अभियान को उसने अपने एक खोजपूर्ण लंबे-विवेचनात्मक लेख में बड़ी गहराई से रेखांकित किया था...।''[24]

तभी तो केतकी बनी शैला से जब उसके यहाँ आने के बारे में मैडम पत्रकार उससे पूछती हैं–

मैं–यहाँ कैसे आई?

केतकी—आपकी कृपा से।

"मेरी..." उसने अविश्वास और अचरज से शैला को देखा।

"जी, आप की की।" शैला का आहत तिक्त स्वर अनायास भर्रा आया, आप अगर उस दिन मुझे अपने साथ लिये जाती तो आज मैं यहाँ हरगिज न दिखाई देती...।"[25]

जब कोई बच्ची घर से कोठे पर पहुंचती है तो उसके लिए उससे ज्यादा जिम्मेदार उसकी परिस्थितियाँ होती हैं जो उसे वहाँ तक आने के लिए मजबूर करती हैं।

'अकाल'—जगदम्बा प्रसाद दीक्षित—की कहानी 'मोहब्बत' एक वेश्या फूलाबाई और ग्राहक के सच्चे प्रेम की पीड़ा की कथा है। कहानी की पृष्ठभूमि बम्बई नगर पर आधारित है। लेखक ने बम्बई शहर के माध्यम से दिखाना चाहा है कि बड़े-बड़े महानगरों के पत्तन, जो शहर को अन्य देशों से जोड़ते हैं, कैसे व्यापार के माध्यम से वेश्यावृत्ति के अड्डे बने हुए हैं। समुद्र के किनारे ही ऊँची-ऊँची सफेद रोशनी फेंकती दूध सी चमकदार इमारते हैं, जहाँ व्यापारी वर्ग या बड़े बड़े लोग आते हैं और सामानों के साथ स्त्री के शरीर का सौदा करते हैं और सुबह आजाद पक्षी की तरह उड़ जाते हैं।

इमारतों के पास ही बड़े-बड़े दलाल लड़कियों को कभी अंदर ले जाते कभी बाहर ले आते दिखाई पड़ते हैं। यहाँ फूलाबाई जैसी सड़कछाप, अनपढ़ और गँवार वेश्या की जरूरत नहीं बल्कि पढ़ी लिखी सुन्दर लड़कियों की पूछ है। इस वजह से फूलाबाई जैसी निम्न स्तर की औरतों की जिंगदी बद से बदतर होती जा रही है।

समन्दर किनारे ही गांधी जी की एक मूर्ति है जिसके सामने उस इमारत में औरतों की इज्जत बेची और खरीदी जा रही है।

हर वेश्या अपने अंत समय में किसी पुरुष के आश्रित होकर जिंदगी गुजारना चाहती है क्योंकि उसे अपने बुढ़ापे का भय बराबर सताता है। इसी के वशीभूत होकर वह एक ग्राहक से मुहब्बत का इज़हार करती है—

फूला बोली—"मैं तुमकू...आते जाते रोज देखती। तुम...मेरे कू भोत अच्छे लगते। देखो न, मैं तुमकू भोत पसंद करती। तुम अकेले मैं..अकेली। मैं तो तुमकू..बोले तो....मुहब्बत करती।" [26]

ये पंक्तियां वेश्या की उस पीड़ा को महसूस कराती हैं जिसकी घुटन वह अपने हृदय में महसूस

करती है। धीरे-धीरे पर लम्बे समय बाद वह ग्राहक भी उसे प्रेम करने लगता है और उस समय जब वह बेहद बीमार और असहाय है उसे सहारा देता है। दोनों के ही भीतर कहीं न कहीं खालीपन है जिसे वे दोनों एक-दूसरे के प्रेम से पूरा करते हैं।

वेश्या के अन्दर भी प्रेम, करुणा और संवेदनाएं हैं वेश्याओं में प्रेम की संवेदना हम आम इंसानों से कहीं अधिक होती है क्योंकि उनके जीवन में प्रेम का सदैव अभाव रहता है। और उन्हें प्रेम की जरूरत हमसे कहीं ज्यादा है। इस बात को लेखक ने महसूस किया है और अपनी कहानी में दिखाने का प्रयास किया है।

गंदगी और जिंदगी—जगदम्बा प्रसाद दीक्षित—दीक्षित जी की अधिकांश रचनाओं की कथावस्तु बम्बई शहर पर आधरित है और इस कहानी की पृष्ठभूमि में भी बम्बई महानगर का एक छोटा और गंदा इलाका है, जहां जिंदगी और गंदगी आपस में इस प्रकार गुंथी हुई है कि उसे अलग करना मुश्किल जान पड़ता है। इस कहानी को पढ़ते हुए अनचाहे ही हमें शेखर जोशी की 'बदबू' कहानी का स्मरण हो आता है।

गंदगी और जिंदगी कहानी की कुछ पंक्तियाँ तुम जब बांदरा स्टेशन से गाड़ी पर आगे बढ़ोगे तो तुम्हारी नाक एक अजीब सी बदबू से भर जाएगी, तुम्हें उबकाई आने लगेगी और तुम्हें बहुत बुरा लगेगा।

जब तुम यह कहानी पढ़ोगे तो यही सब फिर होगा। लेकिन मैं गुलनार बाबू की यह कहानी जरूर कहूंगा। कहूंगा, इसलिए कि कसाई खाने और खाड़ी के बीच घुटनों तक कीचड़ में सनी झोंपड़ियों की जो क़तारें हैं, वहां गन्दगी और जिन्दगी दो अलग चीजें नही हैं।

गुलनार की माँ ने तो जिंदगी धंधे में गुजारी थी पर गुलनार नहीं गुजारना चाहती थी इसीलिए अपने एक ग्राहक प्रेमी के प्रलोभन देने पर वह भाग कर उसके साथ बम्बई आ गई पर वह तो औरों से भी ज्यादा धोखेबाज निकला। उसने गुलनार से शादी तो की पर कुछ दिन बाद गुलनार के सारे सपने टूटकर बिखर गए जब—

"एक रात उस्मान ने दरवाज़ा खुलवाया। दो आदमी और थे। उसने दोनों को अन्दर कर दिया। गुल ने शोर मचाना चाहा। लेकिन उसके हाथ में एक छुरा चमक उठा। दरवाजा बंद हो गया...।

तब वह अठारह की नहीं हुई थी। शायद पांच साल बीत गए। यह सिलसिला रोज शुरू हो

गया।''[27]

उस समय ग्राहक उसके पास आते थे आज वह स्वयं घोड़बंदर रोड पर शाम होते ही सज-धज कर खड़ी हो जाती है क्योंकि उसकी कमाई पर ऐश करनेवाला पति रोज आकर उससे हिसाब लेता है और पैसे न देने पर उसकी बुरी तरह पिटाई करता है। दीक्षित जी एक निम्न वर्गीय स्त्री की पीड़ा और शोषण की कहानी कहते हैं जिसका हर प्रकार से शोषण किया जाता है। स्त्री जब अपना शरीर बेचती है तब वह शारीरिक शोषण सहती है। घर आकर उसका पति उसे मारता है जिससे उसे मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार का कष्ट होता है।

गुलनार की मुलाकात एक दिन महमूद नाम के एक बच्चे से होती है, जिसे देखकर गुलनार को लगता है कि आज अगर उसका बेटा होता तो वह भी उसी के बरबार होता। यही सब सोचकर वह महमूद की देखभाल करती है इसके बदले महमूद भी उसके लिए ग्राहक लाता है। दोनों अब एक दूसरे पर निर्भर है और दोनों ही असहाय। उस्मान के होते हुए भी गुल अकेलापन महसूस करती है। तभी एक दिन जब महमूद उससे ये जगह छोड़कर जाने के लिए कहता है तो वह उसे मना नहीं कर पाती और अत्याचारी उस्मान को छोड़कर, भावनाओं की कद्र करने वाले कम उम्र महमूद के साथ भाग जाती है–

''उसने फिर महमूद का हाथ पकड़ लिया और दोनों ने तेजी से बांदरा स्टेशन की तरफ चलना शुरू कर दिया। उनकी चाल लगातार तेज होती गई। इतनी तेज की दोनों ने अचानक से दौड़ना शुरू कर दिया। शायद इसलिए कि उनके पीछे जो गंदगी सोई हुई थी, वह जागकर कहीं भागती हुई जिंदगी का पीछा न करने लगे।[28]

औरत को नारकीय जीवन जीने को विवश कर देना असहनीय है और औरतों को पतिता बनाने का काम समाज के शक्तिशाली पुरुष वर्ग ने ही किया, इसके एक नहीं कई उदाहरण मिल जाएंगे।

शवयात्रा-श्रीकांत वर्मा–जीवन भर आदि से अन्त तक अपने रूप को बेचकर, अपने हृदय की सरस और कोमल भावनाओं को दमित कर अपनी इच्छा अनिच्छा को त्याग कर जीवन जीने वाली स्त्री जिसे समाज घृणा से 'वेश्या' कहता है उसके अंत समय में समाज उसके साथ केसा बर्ताव करता है। इसे वर्मा जी शवयात्रा के माध्यम से व्यक्त करते हैं। जो समाज यौवन होने पर भौरें की तरह स्त्री के इर्द गिर्द मंडराता है वही उस बाढ़ के उतर जाने पर या उसके शव को देखकर कोई सहानुभूति

भी प्रकट नहीं करता बजाय गालियां देने के–"केवल एक खाट रखने की जगह थी। कोठरी से बाहर निकलकर सिपाही ने सड़क पर इकट्ठे कुछ लोगों से पूछा, इसका कोई वारिस है? जब उसे कोई जवाब नहीं मिला तो उसने-आपसे कहा, आखिर इंतजाम तो करना ही पड़ेगा।

हिंदू थी या मुसलमान?

अपनी साइकिल की सीट पर पीठ टिकाते हुए एक कम उम्र लड़के ने कहा, रण्डी थी।"[29]

समाज ऐसे ही व्यक्त करता है अपनी प्रतिक्रिया इस वर्ग के प्रति।

इमरती बाई के मरने पर दुःख प्रकट करता है बंसीलाल बाल्मीकि जो अन्त तक इमरती बाई से मिलने की अपनी इच्छा पूरी नहीं कर पाता क्योंकि इमरती बाई को देने के लिए उसके पास उतने पैसे नहीं थे जितनी उसकी कीमत थी। खैर...वह इमरती बाई के शव का वारिस बनकर अपनी मैलाढ़ोने वाली गाड़ी पर उसका शव जूलुस की तरह बाजे-गाजे के साथ ले जाता है। पटरी पर खड़े कुछ लोग बात कर रहे थे–

"एक पुरुष–इमरती बाई कौन?

दूसरा पुरुष–रण्डी थी। गुस्से में बंसीलाल की नजर उठी मशहूर रंडी। उसने गर्व के साथ उन्हें देखा।"[30]

आगे शमशान घाट पर चौकीदार ने पूछा–

नाम?–इमरती बाई।

उम्र?

बत्तीस साल। उसने बेखटके कहा।

पति का नाम?–चौकीदार ने अपनी निगाह उठाते हुए सवाल किया। वह कुछ रुका इधर-उधर देखा जैसे कोई सुन तो नहीं रहा है, फिर कहा, बंसीलाल बाल्मीकि। और हाथ बढ़ाकर दस्तखत कर दिया।"[31]

कहानी वेश्या के साथ पूरे समाज द्वारा किए जा रहे अत्याचार व अछूत सा व्यवहार करने पर तीखी चोट करती है। पर बंसीलाल जैसा दलित मैला ढोने वाला इमरती बाई के शव को देखकर पीड़ित होता है क्योंकि समाज में उसकी स्थिति भी वेश्याओं जैसी है। हाशिए पर डाल दिए गए लोगों की पीड़ा लगभग एक सी ही है जिसमें भिखारी और दलित भी शामिल हैं।

मांस का दरिया—कमलेश्वर—पुरुष की मनोवृत्ति और स्त्री की बेबसी की कथा है। लेखक ने एक वेश्या की पीड़ा और मजबूरी का यथार्थ चित्रण किया है, जिससे वेश्या जीवन के प्रति एक जुगुप्सा एवं करुणा का भाव पैदा होता है।

मास्टरजी—मोहनदास नैमिशराय—घरेलू या नौकरी पेशा औरतों की तरह वेश्याएं भी अपने बच्चों के भविष्य को लेकर सपने देखती हैं वे उन बच्चों को भी अपना बच्चा कहकर पालती-पोसती हैं जिन्होंने उनकी कोख से तो जन्म लिया है पर उनके पिता का नाम उन्हें पता नहीं। एक वेश्या की प्रगतिशील सोच को उजागर करती यह कहानी जिसमें एक वेश्या अपने बच्चे को भड़वा या दलाल न बनाकर एक अच्छा नागरिक बनाना चाहती है वह उसको इस दमघोंटू जिंदगी से बाहर निकालना चाहती है जिसने न कितनों का भविष्य अंधकारमय बना दिया।

इसके अलावा एक वेश्या के जीवन का प्रभाव उसके बच्चों को किस प्रकार प्रभावित करता है ग्राहकों के कितने अत्याचारों का सामना मां के साथ बच्चों को भी करना पड़ता है इस पर प्रकाश डालती है।

इनके अतिरिक्त और भी कहानियां हैं जो वेश्या जीवन की त्रासदी को व्यक्त करती हैं जिनमें कमलेश्वर की 'मांस का दरिया' यशपाल की 'हलाल का टुकड़ा' और 'शकीला की मां', 'मंटो की 'हतक', गोविन्द मिश्र की 'खुदा के खिलाफ', परितोष चक्रवर्ती की 'सड़क नम्बर बीस' आदि हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. लेख-उपन्यास और लोकतंत्र, मैनेजर पाण्डेय, पहल 77, अप्रैल-जून, 2004, पृष्ठ-79
2. सेवासदन, प्रेमचंद, संस्करण जून 1997, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं.-20
3. त्यागपत्र, जैनेन्द्र, सस्करण 2001, प्रकाशन, पूर्वोदय प्रकाशन 7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-2, पृ. सं.-58
4. सुहाग के नुपूर, अमृत लाल नागर, संस्करण 1991, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली-2, पृ. सं.-223
5. वही, पृ. सं.-74
6. मुर्दाघर, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, राधा कृष्ण पब्लिकेशन्स प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003, पृ. सं.-8
7. वही, पृ. सं.-142
8. दिव्या (बौद्धकालीन उपन्यास) यशपाल, विद्यार्थी संस्करण 2004, लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, पृ. सं.-119
9. वही, पृ. सं.-119
10. वही, पृ. सं.-201
11. भूमिका-शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, तृतीय संस्करण 2001, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
12. वही, पृ. सं.-91
13. वही, पृ. सं.-89
14. आज बाजार बंद है, मोहनदास नैमिशराय, संस्करण 2004, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-02, पृ. सं.-124
15. आत्मकथा, अपने-अपने पिंजरे, भाग-एक, प्रकाशन 1995, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-02, पृ. सं. -11
16. वही, पृ. सं.-58
17. भूमिका-ऋषियों की रंगरेलियाँ, डा. राम स्वरूप संखवार, संस्करण 2003, अग्नि, ग्राफिक्स, कानपुर
18. वही, पृ. सं.-4-5
19. ये कोठे वालियाँ, अमृत लाल नागर, संस्करण 2001, प्रकाशन लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, पृ. सं.-32
20. बादलों के घेरे, कहानी संग्रह, कृष्णा सोबती, पहला संस्करण 2002, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली-110002, नई दिल्ली-2, पृ. सं.-73
21. वही, पृ. सं.-74
22. फातिमा बाई कोठे पर नहीं रहतीं, चित्रा मुद्गल कहानी संग्रह, प्रतिनिधि कहानियां, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

23. वही, पृ. सं.-64

24. वही, पृ. सं.-64

25. वही, पृ. सं.-65

26. शुरुआत तथा अन्य कहानियाँ, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, प्रथम संस्करण 2001, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-02, पृ. सं.-136

27. अकाल, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित (कहानी संग्रह), प्रथम संस्करण 1997, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-02, पृ. सं.-124

28. श्रीकांत वर्मा रचनावली, भाग-2, प्रथम संस्करण 1995, सं. अरविंद त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-02, पृ. सं.-144

29. वही, पृ. सं.-184

30. वही, पृ. सं.-181

31. वही, पृ. सं.-182

अध्याय-तीन

सलाम आख़िरी में वेश्या जीवन

सलाम आखिरी-2002—में प्रकाशित मधुकंकारिया का यह उपन्यास वेश्याओं के दुःख और पीड़ा की कथा कहता है। उपन्यास की पृष्ठभूमि में कलकत्ता शहर है जो आज के समय में देह का सबसे बड़ा बाजार है।

अपने वास्तविक जीवन में लेखिका एक पत्रकार है और उपन्यास में भी बतौर पत्रकार वेश्या जीवन की छानबीन करती हुई शुरू से अंत तक कथा में बनी रहती है।

कांकरिया जी ने देहमंडियों के भयावह यथार्थ की सच्चाई को औपन्यासिक रिपोर्टिंग के रूप में लिखा है और कलकत्ते के बदनाम इलाकों में बारी-बारी से जाकर देहमण्डी के अश्लील और कामुक जीवन की अलग-अलग कहानियाँ बटोरी हैं। ये कहानियां जिसके केन्द्र में कलकत्ता महानगर है। सोनागाछी, बहुबाजार, बैरकपुर, खिदिरपुर, कालीघाट, श्याम बाजार तथा अन्य स्थानों पर जाकर लेखिका ने वेश्याओं की दर्द भरी कहानियां लिखी और उनके देह-वध, आत्महनन और अपने ही लोगों द्वारा छले जाने के प्रसंगों और फरेबी दुनिया के कपटपूर्ण कृत्यों का खुलासा किया है।

स्त्री जीवन का क्रूर, भयावह और वीभत्स सच अपनी समूची कुरूपता और विद्रूपता के साथ आया है। हर युग और हर समय में वेश्यावृत्ति हमारे दिलो दिमाग़ में नुकीले सवाल चुभोती हुई बेचैन करती रही है। इसी बेचैनी से परेशान होकर मधु जी ने यह उपन्यास लिखा। और बहाना भी मिल ही गया।

दरअसल पत्रकार सुकीर्ति (लेखिका) की सहकर्मिणी और उसके घर काम करने वाली नौकरानी की तेरह वर्षीया बेटी कहीं गुम हो गई है जिसकी खोज में निकली सुकीर्ति भटकते हुए लालबत्ती इलाकों में पहुँच जाती है और जब वहाँ की घिनौनी जिन्दगी को देखती है तो स्वयं को रोक नहीं पाती और अपनी अच्छी बुरी सोच के सथ उपन्यास की रचना करती हैं।

उपन्यास वेश्याओं और वेश्यावृत्ति के नरक के अनेक परिदृश्यों का क्लोजअप है, जो अठ्ठाइस परिच्छेदों में विभक्त है और हर परिच्छेद एक नई कहानी कहता है। शीर्षक चुनने में लेखिका ने कभी 'घूंघट के पट खोल', 'मांझी न बजाओ बंशी कि मेरा मन डोलता है', 'पूछत स्याम कौन तू गोरी' जैसी साहित्यिक शब्दावली का प्रयोग किया है वही 'वन्स ए प्रोस्टीच्यूट ऑलवेज ए प्रोस्टीय्यूट' 'रायंस रेंज' 'ह्वेन रेप इज एनएविटेबल', 'इवेन गांधी एण्ड ईसा वर नॉट एक्सेप्टेड हंड्रेड परसेंट' जैसे अंग्रेज़ी

के शीर्षक लिए हैं।

अपने इस उपन्यास को लेखिका ने समर्पित किया है 'पुरुषों के लिए' क्योंकि वह वेश्या उन्मूलन हेतु जैसी क्रान्ति और भागीदारी चाहती है, वह पुरुष वर्ग के बिना संभव नहीं। चूंकि कोई भी स्त्री पुरुष सहभागिता के बिना वेश्या नहीं बनती इसलिए उन्मूलन भी बिना उनकी सहायता के संभव नहीं।[1]

उपन्यास में एक ओर जहाँ वेश्यागामी ग्राहक है–

"दूर से ही एक उड़ती एवं खाऊ निगाह फेंकते थोड़ी करीब आता है वह, करीब आते ही सभी वेश्याओं के चेहरे पर आशा-निराशा की बत्तियाँ जलने-बुझने लगती हैं।

और तभी वह अपनी देह के तख्तेताऊत पर बैठी इन औरतों में से किसी एक मादा देह के पास आकर खड़ा हो जाता है।

बातचीत एकदम खुली।

उसका पहला सवाल।

धरे जाबी? (घर में चलोगी?)'

मिचमिची आंखों से छलकती कामुकता।"[1]

ऐसे आदमियों से लेखिका को घृणा है जो उन औरतों से सेक्स की अपेक्षा करते हैं जिनका सेक्स मर चुका है

"तमाम शालीनताओं, मर्यादाओं और सम्बंधों के मुर्दाघरों के ये रास्ते जहाँ हर आने वाले इस सत्य से नितान्त अनभिज्ञ है कि जीवन की तमाम आधुनिकता के बावजूद सेक्स तभी जीवित रहता है, जब वह भावनाओं से जुड़ा हो। वरन् वह सिर्फ मुर्दा जिस्मों के साथ हम बिस्तर होना भर है।"[2]

दूसरी ओर चालाक, पाश्विक, क्रूर, कमीने चलते-फिरते कार्यालय जैसे दलाल हैं जो स्त्रियों की देह का सौदा गाय या भैंस जैसा करते हैं–

आसपास मंडराते कुछ लगुवे-भगुवे दलाल चलता-फिरता कार्यालय बने हुए।

"सर, सर इधर चलिये... बस थोड़ा सा आगे पटाखा माल है, जोरदार चीज। हाँ-हाँ सर बस गारंटी समझिए...बस एक बार देख भर लीजिए।

सर, सुनिए तो अबकी-बहुत वैराइटी है।"[3]

इन शब्दों को सुनकर कानों पर एकाएक विश्वास नहीं होता कि ये शब्द नारी की सबसे मूल्यवान

सम्पत्ति (भारतीय परिप्रेक्ष्य में) की कीमत लगाने के लिए हैं।

देह बाजार के इन इलाकों में पहुँचकर लेखिका, पत्रकार सुकीर्ति बन जाती है और जैसे-जैसे वह इन गलियों में उतरती जाती है गहरे में धंसती जाती है। वह वेश्या जीवन की छिपी सच्चाइयों से रूबरू होने लगती हैं।

'वेश्यावृत्ति' जैसे शब्द को सुनकर ही सामने वाला भौं चढ़ाकर देखने लगता है। फिर उस जीवन पर लिखना कितना कठिन रहा होगा। अपने इसी अनुभव को 'आत्मकथ्य' के माध्यम से लेखिका बताती हैं–

उपन्यास के दौरान–"लेखनी जैसी हाथों से छुट-छुट जाती थी। यहाँ पग-पग पर चुनौतियाँ थीं। प्रश्नों की नुकीली नोकें थीं। श्लीलता-अश्लीलता की चाबुकें थीं संस्कार और संस्कृति के कठघरे थे। भाषा की अनावृत्ति का सवाल था। एक आत्मसंघर्ष निरन्तर चलता रहा, क्या रहे लेखिका की लक्ष्मण रेखा? वेश्याओं की जो दुनिया परत-दर-परत मेरी आंखों के समक्ष खुलती जा रही थी उस दुनिया की कुरूपता, कुत्सा और भयानकता का चित्रण करने में स्वयं को कितना डि-क्लास करें?"[4]

किसी लेखिका द्वारा वेश्या जीवन पर लिखा गया यह पहला उपन्यास है।

पत्रकार सुकीर्ति हाशिए पर डाल दी गई वेश्याओं से केवल मिलती ही नहीं बल्कि उनके मन के तारों को भीतर तक छू लेती हैं और उनके विकल्पहीन, वंचित, अवरुद्ध जीवन के रहस्य को पूरी साहसिकता के साथ खोलते हुए सत्य की निचली तहों तक पहुँचने की कोशिश करती है।

दरअसल उपन्यास के बहाने लेखिका ने वृहद समाजशास्त्रीय अध्ययन में वेश्या जीवन की सच्चाई को दिखाने की कोशिश की है और साथ ही यह भी बताया है कि भारत के लालबत्ती इलाकों की स्थिति अन्य किसी भी देश के लाल बत्ती इलाकों की स्थिति से कहीं ज्यादा यांत्रिक, भयावह, कुत्सित एवं कुरूप हैं। वेश्या जीवन पर लिखी सर्वोत्कृष्ट रचना 'यामा दि पिट' यानी 'गाड़ी वालों का कटरा' में भी भारत में वेश्यावृत्ति के हालात को व्यक्त किया है–

"मीलों तक, सड़क के दोनों तरफ़ मकान के ऊपरी खण्डों में वेश्याएं खचाखच भरी हैं। ये बहुधा मारवाड़िने और एतद्देशीय हैं। जैसे दड़बे में कबूतर भरे रहते हैं, मकान का किराया अधिक होने से वैसे ही एक एक कमरे में चार-चार, पांच-पांच वेश्याएं सड़ा करती हैं। खुलेआम बीच सड़क में लोग लड़कियों से मज़ाक करते हैं। यह दशा केवल कलकत्ता शहर की ही नहीं है। इस खुले व्यभिचार का

साइनबोर्ड भारत के प्रत्येक शहर के खास बाजार में या चौक में दिखायी देगा। बम्बई का व्हाइट मार्केट (सफेद गली) दिल्ली का चाबड़ी बाजार और लखनऊ का खास चौक वेश्याओं से भरे पड़े हैं।"[5]

परन्तु आज वेश्याओं की स्थिति पहले की वेश्याओं से कहीं ज्यादा दुःखद है। पहले जहाँ वेश्याएं अच्छी खासी कीमत वसूल करने की कला जानती थी, वहीं आज वेश्याएं मात्र दस-दस रुपये में अपनी देह तथा आत्मा दोनों बेच रही हैं क्योंकि वे इतनी ग़रीब हैं कि इतने में भी समझौता करना पड़ता है—सुकीर्ति जब एक वेश्या से पूछती हैं—

"तुम्हें डर नहीं लगता, अपनी इज्जत को इस प्रकार पराए मर्द के हवाले करते...

क्यों नहीं लगता, बहुत लगता है...।

"तो फिर क्यों करती हो तुम ऐसा?"

क्योंकि इससे भी ज्यादा डर एक और चीज है, उससे लगता है।

क्या है वह?

भूख....।[6]

सचमुच भूख से लड़ा या उसे दबाया नहीं जा सकता। वैसे भी 'भूख' के लिए इंसान अपना क्या क्या नहीं बेचता—मजदूर अपना श्रम बेचता है, सुन्दर स्त्री अपना सौंदर्य बेचती है, अपना सामान बेचने के लिए 'सेल्स मैन या गर्ल', अपनी मुस्कुराहट बेचते हैं फिर कोई स्त्री यदि अपना शरीर अपनी मर्जी से बेचती है तो इसे समाज में बुरा क्यों माना जाता है?

हां यह मानवीय गरिमा के खिलाफ है पर उनके लिए भी जो उस शरीर को खरीदते हैं। इसलिए वे लोग अधिक जिम्मेदार हैं, इस कुप्रथा को जारी रखने में क्योंकि बाजार का सिद्धान्त 'मांग और पूर्ति' पर आधारित है।

आर्थिक बदहाली, प्राकृतिक आपदाएं तथा युद्ध जैसी स्थितियों से वेश्यावृत्ति का रिश्ता बड़ा गहरा है क्योंकि इनका प्रभाव सबसे ज्यादा और सबसे पहले स्त्रीवर्ग पर पड़ता है। सच ही कहा जाता है कि पेट की आग इंसान से कुछ भी करवा सकती है और इस आग में जलने वाली स्त्रियां वेश्यावृत्ति को अपनी नंगी भूखी जिन्दगी से बेहतर मानकर स्वीकार कर लेती हैं।

सच, वेश्या होना एक अभिशाप है। कहते है न कि नशीली दवा तो एक बार बेची जाती है पर

औरत को बार-बार बेचा जाता है। इसी बेचने और खरीदने की प्रक्रिया में वह कई रोगों का शिकार होने पर या तो नागर की ये 'कोठे वालियां' की 'बद्रेमुनीर' की तरह घृणित मौत पाती है या सलाम आख़िारी की रेशमा की तरह जिसे आखिरी दिनों में उसकी कोठे की मालकिन ने निकाल दिया क्योंकि वह कई बीमारियों की शिकार थी अतः ऐसी स्थिति में उसे अपने पेट भरने और गुजारे के लिए भीख मांगनी पड़ी।

"अपने एकदम आख़िरी दिनों में वह सड़क पर विक्षिप्तावस्था में ही भीख मांगते-मांगते एक दिन मृत पाई गई थी। हिन्दू सत्कार समिति की गाड़ी उसकी मृत देह को उठाकर ले गई थी।"[7]

ऐसा ही होता वेश्या जीवन का अंत। उपन्यास में दो कहानियां साथ-साथ चलती हैं पहली जो देह बाजार से सम्बद्ध है और दूसरी जो सट्टा बाजार से। पत्रकार सुकीर्ति का सम्बंध दोनों से है। पत्रकार होने की वजह से वह दोनों कथाओं से जुड़ी है क्योंकि वह मन्ना एण्ड सुरेका नाम के एक बड़े फर्म में काम करती है। मन्नालाल जी कलकत्ता शहर के बड़े व्यापारी हैं।

यहां दिखाया जा रहा है कि एक वर्ग श्रम बेचकर खून पसीने से पैसा कमा रहा है पर उसकी कोई इज्जत नहीं जबकि दूसरा वर्ग श्रमरहित, सिद्धान्त रहित। एक तरह से देखा जाए तो दोनों कहानियां एक दूसरे से सम्बद्ध भी है और नहीं भी।

"दोनों ही अतिरेक पर जीने वाले। दोनों ही आज की तारीख़ में परम दुःखी। पर अन्तर है दोनों ही पृष्ठभूमि में, इतिहास में, शुरूआती बिन्दुओं में। एक परम दुःखी, अल्प समय में ही न्यूनतम श्रम के सहारे शार्टकट द्वारा अपरिचित धन संचय के तिकड़मी प्रयासों की, विफलता के चलते। एक चरम दुःखी, अभावों के दलदल में अपनी गृहस्थी के भारी भरकम जुए को अपने दुर्बल कंधों से खींच न पाने की असमर्थता के चलते।"[8]

लेखिका के पत्रकारिता के मिजाज चलते उपन्यास में तारतम्यता नहीं आ गई है और कहानी कई-कई टुकड़ों में सामने आती है। इसलिए बेहतर होगा प्रसंगों एवं शीर्षकों के अनुसार कथा को समझा जाए।

उपन्यास का पहला प्रसंग है—'परिक्रमाएं-घूंघट के पट खोल'। लेखिका उपन्यास की शुरुआत पटों को खोलकर करती है। ये पट उस दुनिया के हैं जिनसे लेखिका हमारा परिचय कराती हैं। सभ्यता से परे, इस दुनिया के विधान दूसरे हैं, जीने की शर्तें अलग हैं। इस दुनिया में नारी की देह

ही नहीं वरन् उसकी आत्मा, उसका स्वाभिमान सब कुछ बिकने को तैयार है वह भी एक बार नहीं बार बार, घंटों और मिनटों के हिसाब से।

यह दुनिया है वेश्याओं की, सदियों से बोझ ढोती हुई देह के मंदिरों और पुजारियों की। देह की मण्डियों में सबसे प्रसिद्ध है 'सोनागाछी'। कलकत्ता महानगर का सबसे प्रसिद्ध लालबत्ती इलाका। लेखिका अपने उपन्यास की यात्रा इसी इलाके से शुरू करती है। इस शीर्षक में लेखिका वेश्याओं के प्रकार, उनके ग्राहकों एवं दलालों के बारे में जानकारी देती हैं।

''अंधेरे और उम्मीद के संधि स्थल पर।

अपने स्वाभिमान के विरुद्ध।

अपने खिलाफ!

किसी दूसरी देह का इंतजार करती। उबकाईं और उदास

लिपी-पुती देह / आँखों में भविष्यहीता / चेहरे पर सस्ता और भड़कीला मेकअप

रंगे होंठ / सस्ती चमक के आभूषण / चटक और सस्ती किस्म की पोशाके

प्लास्टिक की चप्पलें/अठारह से लेकर चालीस-बयालीस की उम्र की लगभग सभी वारांगनाएं / तरह -तरह की बंगाली, नेपाली और आगरावाली।''[9]

ये वारांगनाएं कभी खुद से तो कभी दलाल के माध्यम से अपनी देह का सौदा करती हैं। यहाँ इनका दाम उम्र, देहयष्टि, कमरे का स्तर, देह की लोच देखकर तय होता है।

संसार में संभवतः कलकत्ता ही एकमात्र ऐसा शहर होना जहाँ 40 वर्ष की प्रौढ़ वेश्याएं भी अठारह वर्षीय नवयौवना के साथ अपने द्वार पर खड़ी मिल जाएंगी। तब भी प्रायः पच्चीस या तीस रुपये देने वाला ग्राहक तक नहीं फटकता। कलकत्ते की वेश्याओं का दुर्भाग्य है कि सुंदर से सुंदर वेश्या का मूल्य यहाँ सौ रुपये से अधिक नहीं है और कई बार तो एक कम चाय में भी आपको वेश्या उपलब्ध हो जाएगी। जो सौभाग्यशाली वेश्या होगी, उसे भी सौ रुपये देने वाले ग्राहक दिन में तीन या चार से ज्यादा नहीं उपलब्ध होंगे कारण कलकत्ते में जितनी वेश्याओं की मांग है वहां उससे कहीं ज्यादा वेश्याएं है।

इसका एक कारण सीमा से लगा होना है जिस वजह से पड़ोसी देशों से खरीदकर या किसी अन्य कारणों से लाई गई लड़कियों को यहां बेच दिया जाता है। इसके अतिरिक्त बिहार जैसा आर्थिक

बदहाली से तंग राज्य में माँ-बाप गरीबी के कारण अपनी लड़कियों को बेच देते हैं और दलाल उन्हें लाकर कलकत्ते जैसे महानगर में बेचकर मुनाफा कमाते हैं।

जहां ज्यादा वेश्याएं होना स्वयं वेश्याओं को तंगहाली में जीने और परेशानी का सबक है वहीं इस बात का फायदा ग्राहकों को मिल जाता है कि उन्हें कम दाम पर भी लड़कियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। यहां सभी प्रकार के ग्राहक आते हैं–

नाक वाले, बिना नाक वाले, टायर्ड-रिटायर्ड, पत्नी वाले, बिना पत्नी वाले। लुक छिपकर आने वाले, खुलेआम आने वाले, ट्रक ड्राइवर, रिक्शा चालक, मजदूर यहाँ तक कि लेखक, पत्रकार और समाज सुधारक भी। इसके अलावा लुंगी वाले, टाई वाले, धोती वाले, तिलकधारी, गांधी टोपी धारी सभी।[1]

अर्थात् वेश्याओं के होने से किसी को परहेज नहीं। परहेज है तो उनके न होने से। इस प्रकार पहला प्रसंग सोनागाछी से लेकर दलाल संस्कृति तक का मार्ग दिखाता है।

दूसरा शीर्षक 'सोनागाछी देह का स्टॉक एक्सचेंज' इसी प्रसंग से लेखिका का प्रवेश सुकीर्ति के रूप में होता है और वह वेश्याओं की जिन्दगी में धीरे धीरे प्रवेश करने लगती है–

''एकदम शुरु में हिम्मत नहीं होती थी उसकी इन लाइलवालियों से बतियाने की। जाने कैसा खौफ, रहस्य, आतंक एवं संशय धंसा रहता था उसके अन्तर में इनको लेकर। इनकी खुदगर्जियाँ, इनका टुच्चापन सूअरपन...ये कुटनी होती हैं, बर्बाद कर देती हैं आदमियों को। हर वक्त अन्तर में उठती रहती एक आवाज़ वी वेअर-वी वेअर!!''[10]

वेश्याओं के बारे में ऐसी राय मात्र सुकीर्ति की ही नहीं वरन् उसके जैसे ही कई लोग सोचते हैं, तब तक जब तक वे इन पेशेवर जिन्दगी को क़रीब से नहीं देखते है। दरअसल ऐसी धारणा उस पुरुष वर्ग द्वारा बनाई गई है जो खुद तो इनके पास जाता है लेकिन अपने घरों की औरतों को इनके पास, 'बुरी औरत' कहकर नहीं जाने देता।

मिथों के गढ़े जाने के बावजूद सुकीर्ति उनकी दुनिया में प्रवेश करती है जहाँ उसकी मुलाकात 'मैडम मीना' से होती है, जो चकले की मालकिन है तथा पिछले आठ-नौ वर्ष से उसने वेश्यावृत्ति छोड़ दी है और अपना स्वतंत्र चकला चला रही हैं। यही हर वेश्या का सर्वाधिक महात्वाकांक्षी स्वप्न है, अपना स्वतंत्र चकला।

मीना का चकला अविनाश कविराज स्ट्रीट गली का खासा समृद्ध और इज्जतदार चलका है। छः लाइन वालियाँ इस चकले में मैडम मीना के अधीन है। 'कच्ची कचनार नूरी' झिलमिलन कृष्णा। हल्ला वेश्या रमा। पुराना चावल नलिनी / तेजपत्ता जूली / दरिद्रता की तरह दयनीय चम्पा / इनके नामों की तरह की इनकी कहानी भी अलग-अलग हैं।

इन लड़कियों को मालकिन के अलावा ग्राहकों की भी तरह-तरह की यातनाओं का शिकार होना पड़ता है—

''मलिन चेहरा, सुजी आँखों के पपोटे एवं थके तन के साथ एकदम तमतमाए मूड में है जूली। कल रात चूहे की सी शक्ल वाले मिनमिनाते एक ग्राहक ने विकल वासना के आवेग में उसे भरपूर साथ न देने के कारण एवं मनमानी करने से रोक दिए जाने के कारण भरपूर चांटा मार दिया था। उसने कमरे से बाहर निकलते ही शिकायत की थी—मालकिन से। लेकिन इसके बावजूद मालकिन ने उस ग्राहक से कुछ नहीं कहा था।''[11]

ऐसी पीड़ा जूली ही नहीं उसके जैसी अनेक औरतें / लड़कियाँ सहती हैं जिसे ग्राहक पैसे देकर कुछ घंटों या मिनटों के लिए खरीदता है। पुरुष को लगता है कि यदि वह इसके लिए पैसे दे रहा है तो उसे अधिकार है वेश्या के साथ कैसा भी व्यवहार करने का। यह उसकी रुग्ण मानसिकता का संकेत है।

इसके अतिरिक्त इस शीर्षक में सुकीर्ति बंगाल में चल रही वेश्यावृत्ति के ऐतिहासिक सूत्रों को खोजती एवं खोलती हैं—'इतिहास बताता है कि बंगाल में वेश्यावृत्ति अपने किसी न किसी रूप स्वरूप में 1690 के आसपास पुर्तगाली व्यापारियों एवं यात्रियों के मनोविलास के लिए, नवाबों द्वारा ऐवर्श्य के साधनों के साथ ही लड़कियों को भेंट करने की प्रथा के रूप में शुरू हुई, जिन्हें व्यापारी अपनी रखैल बनाकर रखते थे।

इस प्रकार यह प्रथा आज वेश्यावृत्ति के रूप में जारी है।

तीसरा शीर्षक 'वंस ए प्रोस्टीच्यूट ऑलवेज ए प्रोस्टीच्यूट' पत्रकार सुकीर्ति एक बार इन वेश्याओं से मिलने के बाद अब बेधड़क उनसे बातचीत करती है। यहाँ तक कि जब उसका मन नहीं लगता तो वह यहीं आकर अपना समय बिताती हैं। इस शीर्षक में सुकीर्ति रमा, कृष्णा, नलिनी, चम्पा से बातें करती हुई उनके वेश्या बनने की परिस्थितियों से परिचित होती है, पता चलता है कि अधिकांश

लड़कियाँ गरीबी, बेकारी और भुखमरी के चलते इसे अपनाती हैं। गरीब होने के बावजूद सबकी परिस्थितियाँ एक सी नहीं बल्कि अलग-अलग हैं। अपने बारे में नूरी बताती है कि –सुन्दरवन के पास से आई थी वह / माँ-बाप कृषक मजदूर / घर में उससे छोटे दो भाई, दो बहनें / किसी तरह रो-पीटकर गुजारा चल रहा था कि बाढ़ तबाही ले आई / बर्तन-भांडे सब कुछ बिक गए।[1]

गरीबी की वजह से बहुत-सी लड़कियाँ शहर जाकर धंधा करती है और घर पर यह कहकर पैसा भेजती हैं कि कहीं काम कर रही हैं। ऐसी ही पड़ोस की एक समवयस्क लड़की ने नूरी को गरीबी से मुक्त होने का उपाय बताया। यद्यपि नूरी भाई बहनों में सबसे बड़ी थी इसलिए घर की जिम्मेदारी भी उसी के ऊपर थी इसलिए अपने अपनी पड़ोसिन द्वारा शहर जाकर पैसे कमाने की बात स्वीकार कर ली। पड़ोसिन ने उसे नौकरी की बात कही थी, पर जब नूरी उसके साथ शहर आई, तो उसने रास्ते में नूरी को भला बुरा सब समझा दिया था। यहां तक कह दिया था कि 'चाहो तो अभी भी लौट सकती हो।' पर नूरी ने जाना स्वीकार नहीं किया और पेशे को अपना लिया। आज वे भागना चाहती है पर शायद ऐसा संभव नहीं हो सका। गांव से शहर आई नौकरी की खोज में गांव से शहर आई भोली-भाली लड़की को वेश्या बनाने में देर नहीं करते ये घृणित इंसान। कभी भूख की कगार पर खड़े, उम्मीद लगाए मां बाप, छोटे भाई की ओर ध्यान दिलाकर तो कभी भुखमरी का डर दिखाकर मजबूर किया जाता है इनको। क्या करे एकदम छोटी जगह से आने वाली यह लड़की किसे बचाए अपने मां-बाप के भूख से तड़पते, मुरझाए चेहरे को या जन्म से पूंजी की तरह संभालकर रखे अपने शरीर को। और यदि उसने एक भी बार इस रास्ते को मात्र आजमाने के लिए अपना भी लिया तो 'वन्स ए प्रोस्चिट्यूट ऑलवेज ए प्रोस्टिचट्यूट' का लेबल लग जाता है फिर चाहकर भी वह उस धन्धे से बाहर नहीं निकल पाती और इस प्रकार कभी स्वतंत्र तो कभी दलालों या वेश्यालयों के अधीन रहकर इस काम को अंजाम देती है। 'माँझी न बजाओ बंशी कि मेरा मन डोलता है' को लेकर कथा एक नया मोड़ लेती है जब वेश्याओं पर हुक्म चलाने वाली मैडम मीना उनकी बीती जिन्दगी को सुनकर स्वयं को रोक नहीं पाती और फूट-फूट कर रोने लगती है–कुछ खामोश पल!

"एक मौन, दूर दृष्टि / अतीत के सागर में उठती कुछ लहरें ... झिलमिलाती हैं कई तस्वीरें.. ..कोई अधूरी, कोई पूरी।"[12]

शहर में जाकर दूसरों के घर चौका बर्तन करने वाली गरीब, अनपढ़ और भोली लड़कियों के साथ

कैसा व्यवहार करते हैं पढ़े-लिखे और सभ्रांत कहे जाने वाले लोग और कैसे वेश्यावृत्ति जैसी बुराई को अपनाने के लिए मजबूर करते हैं–

बंगाल की तलहटी में घर था मीना का। वह सबसे बड़ी तकरीबन दस-ग्यारह साल की। खपरैल की छत वाला कच्चा छोटा-सा घर। जब कभी जोर-जोर से आंधी चलती तो उसकी मां को हमेशा खपरैल टूटने का डर रहता। गरीबी के कारण घर में हमेशा चिक-चिक रहती, हर चीज का टोटा-आए दिन मार-पीट। खाने वाले इतने कमाने वाला सिर्फ बाप।

एक बार गांव के ही किसी वृद्ध ने उसे दूसरे गांव के किसी घर में चौका-बर्तन के लिएलगा दिया, परन्तु एक घर को प्राप्त आय से खर्च नहीं चलता था इसलिए तीन घरों में चौका बर्तन करने लगी। लगभग दस-साढ़े दस बजे एक घर में सुबह की बची हुई चाय गरम करके दे दी जाती, साथ में रात की बासी रोटी। दोपहर का खाना तीन और चार बजे तक मिलता। एक बार एक घर में प्याली टूटने के कारण मालकिन ने मेरे पैसे रख लिए और बाल पकड़कर घर से बाहर निकाल दिया। रोते हुए घर आई और बाबा से बताया तो वह भी साथ ही साथ रोने लगे।

कुछ दिन बाद ही एक स्त्री आई जो अच्छी पगार का लालच देकर मुझे कलकत्ता ले आई और एक बच्ची की देखरेख का जिम्मा देकर चली गई। उस घर में एक छोटी बच्ची और उसका पिता था और उनके साथ मैं खुश थी, परन्तु एक दिन–उस आदमी ने मुझे अपने साथ उसके कमरे में आने के लिए कहा। मैंने सोचा कि शायद मुझसे भूल हो गई है। मैं पीछे-पीछे उसके कमरे में चली आई। उसने कहा, हाँ कल ही तुम्हारे घर जाने की व्यवस्था करता हूँ बस तुम थोड़ी देर लेट जाओ और साथ में ही उसने मुझे आहिस्ता से बिस्तर पर धकेल दिया। नहीं समझते हुए भी मुझे लगा कि यह सब ठीक नहीं हो रहा है। मैं माँ दुर्गा, माँ-दुर्गा का जाप करती रही और वह मुझे लुटता रहा। मेरे मुँह से चीख निकली तो उसने थप्पड़ मारकर मुझे चुप करा दिया। बाद में जब मैं रोने लगी तो उसने हँसते हुए कहा, कुछ नहीं, बस एक खेल खेला है, शहरों का खेल ऐसा ही होता है।

ये है उदाहरण उस पुरुष समाज का जिसके लिए स्त्री की अस्मिता लूटना एक घटिया खेल खेलने जैसा है। इस पीड़ा एवं दर्द का वह भुला भी नहीं पाई थी कि एक और घटना माया के साथ घटी, जब वह उस घर से भागकर ट्रेन में चढ़कर घर जाने का सपना देखने लगी। माया के पास पैसे न

होने के कारण एक मुसाफिर उसे बचा लेता है पर यह तो पहले वाले से भी बड़ा जानवर निकला—मैंने (माया) उसे सारी आपबीती सुना दी। बाद में मुझे पता चला कि वह रेलवे कर्मचारी था एवं जहाँ मुझे ले गया वह रेलवे क्वार्टर था। एक रात उस नामर्द ने अपनी जाति बता ही दी और मुझ पर कृपा करने की कीमत वसूल की। उसके बाद उसने कहा, "अब कोई भी लड़का तुमसे शादी नहीं करेगा, क्योंकि पन्द्रह वर्ष की उम्र में ही तुम वेश्या हो गई हो। अच्छा है, ई सब तुम पेसा कमाने के लिए करो इस प्रकार छः महीने तक मुझे पूरी तरह से भोग-भागकर, अधाकर, एक रात वह मुझे इन्हीं अंधेरी गलियों में बेच गया।"[13]

यही है पुरुष सत्तात्मक समाज की हकीकत जो स्त्री को सिर्फ और सिर्फ एक ही रूप 'देह' के रूप में देखती है। वेश्याओं की दुःखभरी दास्तान सुनने के बाद सुकीर्ति बेचैन सी हो जाती है और साथ ही उसका पूर्वाग्रह खत्म हो जाता है कि वेश्याएं धरती की सबसे बुरी औरत हैं। जिन औरतों को हम घृणित और उपेक्षित समझते हैं दरअसल वे भी प्रेम और सम्मान की पात्र है, क्योंकि आज वे जहां भी जिस भी स्थिति में हैं वे कहीं से भी इसके लिए जिम्मेदार नहीं है, बल्कि जिम्मेदार हैं वे रूढ़ियाँ, प्रथाएं, समाज की संरचना और मूल रूप में पुरुष सत्तात्मक समाज, जो औरतों का जीवन तबाह कर यहाँ तक पहुँचने के लिए मजबूर करता है।

मैडम मीना और अन्य वेश्याओं की दुःखभरी दास्तान सुनने के बाद सुकीर्ति आहत महसूस करती हैं खुद को—लोग कहते हैं भंगी पैदा नहीं होते, बना दिए जाते हैं कोड़े मार-मार कर...पर क्या यही वेश्या जीवन का भी सच नहीं? इनमें से कौन थी जिसने चाहा था ऐसा जीवन?[1]

इसीलिए कोई भी स्त्री उस व्यक्ति को कभी भी क्षमा नहीं कर पाती जो उसे वेश्या बनाता है।

अगला शीर्षक 'रायंस रेंज' शुरू होता है जब सुकीर्ति दुर्गा पूजा की छुट्टियां बिताकर और वेश्याओं की दास्तान सुनने के बाद आफिस जाती है। यहाँ आकर उसे पता चलता है कि कम्पनी जिसमें वे काम करती है उसका दिवाला निकलने वाला है। वह मन्ना लाल जी के बारे में सोचकर परेशान हो जाती है कि उनकी ऐय्याशियों ने उन्हें कहाँ लाकर खड़ा कर दिया है। अचानक से देह और सट्टा बाजार दोनों में वह तुलना करने लगती है—

"हे भगवान, अच्छी कुण्डली गढ़ी मेरी! एक तरफ देह मार्केट का स्टॉक एक्सचेंज, एक तरफ

शेयर बाजार बाजार का स्टॉक एक्सचेंज। दोनों ही तरफ सीमान्तों पर जीता हुआ जीवन।''[14]

घर लौटते हुए भी घर जाने का सुकीर्ति का मन नहीं हो रहा था। सोचती है कौन है उसके मित्रों में ऐसा जिसके साथ बांट सके वह अपने बीते दिनों के अनुभव, विशेषकर लाल बत्ती इलाके के अनुभवों को क्योंकि ऐसा करके ही वह पुरुष मानसिकता को सामने लाना चाहती है। उसे सबसे पहला नाम याद आता है मेधेन का। और सुकीर्ति फोन कर उसे घर पर बुलाती है।

'एक ताजमहल! एक हरिद्वार!' शीर्षक में सुकीर्ति और मेधेन की वेश्यावृत्ति जैसे ज्वलंत विषय पर गंभीर बहस होती जिसमें वे वेश्यावृत्ति के ऐतिहासिक कारणों की खोज करते हुए बहस करते हैं।

मेधेन एक ऐसा नाम जिसने सबसे पहले सुकीर्ति को आत्मबोध दिया था कि अपनी सुख-सुविधाओं की परिधि के बाहर भी कोई धड़कता जीवन है जिसे देखने समझने की आवश्यकता है। यह बात तब की है जब परिवार और रसोई की बंद दुनिया से सहमते सकुचाते ही उसने विश्वविद्यालय के प्रांगण में कदम रखा था।

मेधेन उसका सहपाठी-एक बेहद भावुक, शर्मीला, अन्तर्मुखी और तेज किस्म का लड़का था। मंगोलियन नाक नक्श, खुलता गेंहुआ रंग। एक जोड़ी तेज पारदर्शी आंखें। बेहद बौना लम्बाई चार फुट ग्यारह इंच।

वेश्याओं के बारे में पुरुषों की धारणा जानकर सुकीर्ति बहुत दुःखी और उग्र हो जाती है। मेधेन से सुकीर्ति को वैचारिक ऊर्जा मिलती है, और दोनों का संवाद कथा का हिस्सा कम बौद्धिक संवाद अधिक हो जाता है।

सुकीर्ति ने कही पढ़ा था कि मौत की सजा पाए कैदी और वेश्या से कभी उसकी कुशलता नहीं पूछनी चाहिए क्योंकि दोनों ही अपने जीवन पर एक्सपायरी डेट लिख चुके होते हैं। पर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों वह इस जीवन की गहराई में जाती है उसे महसूस होता है कि हर वेश्या का सत्य ऐसा नहीं होता और इस पेशे में रहते हुए भी वे अपने अन्दर वह सब कुछ बचाकर रखने में सक्षम होती हैं जिसे 'आत्मा का सौंदर्य' कहा जाता है। गायत्री नाम की वेश्या की चर्चा वह सुन चुकी है इसलिए अपने अगले शीर्षक में उससे रूबरू होती है।

'खस्सी की जान जाए, खवैया को स्वाद नहीं' भारतीय पतिता उद्धार सभा के मुख्य सम्पादक खैराती लाल भोला कहते हैं ''आज से कई साल पहले एक अधेड़ दम्पत्ति खारीबावड़ी (दिल्ली) से

सामान लेकर लौट रहे थे। लाहौरी गैट के पास मजमा लगा देखा तो ठिठक गए। भीड़ के बीच में गए तो देखा, एक लड़की एक आदमी को जूतियों से पीटते हुए कह रही थी, "निकाल दस रुपये और! सिर्फ दस रुपये पकड़ा कर आ गया, मैं अपने बच्चों को क्या खिलाऊंगी?"

इस पर वह सज्जन लड़की से बोले, "बेटी, इस तरह झगड़ने से क्या होगा, छोड़ो।"

वह बोली कैसे छोड़ दूँ? जो बीस रुपये मिलते हैं उनमें से पांच रुपये मुझे दल्ला को देने पड़ते हैं और पांच रुपये पुलिस को। पांच रुपये कोठे की मालकिन को। अगर अपने पांच रुपये मैं छोड़ दूं तो पांच रुपये फालतू कहां से लाऊं?"[15]

ऐसे ही एक प्रसंग से परिचित होती है सुकीर्ति जब वह गायत्री से मिलने जाती है—

गायत्री उस दोपहर बम फोड़ मूड में थी। कुछ देर पहले ही कोई ग्राहक निर्धारित समय से ज्यादा समय लेने के बावजूद पूरा पैसा देना नहीं चाह रहा था। गायत्री साक्षात् रणचण्डिका बनी हुई थी। चकले की बंगाली भाषा में चुन-चुनकर वह विशेष किस्म की हैवी वेट गालियां दे रही थी—खानकीर छेले, माएर खमस...असल बाप का है तो पैसा मारकर दिखा दे।

सुकीर्ति ने वेश्याओं द्वारा गाली देने के विषय में सुना जरूर था पर आज गायत्री को सामने ही गाली देते हुए देखकर उसे महसूस हुआ कि लूटी-पिटी जिन्दगी के चिथड़े बटोरती इन औरतों की गालियों में क्यों इतनी शब्द शक्ति होती है, क्योंकि वे इनके हृदय के हाहाकार से निकलती हैं। और इन्हीं चुभती गालियों के सहारे वे पुरुष समाज से लोहा ले पाती है।

सच भी हे कि उनकी बोली या भाषा उस समाज से उपजती है कि जिस समाज की कड़वाहट इन असहास उन्हें हर दिन करना होता है। वैसे भी उनके सामने किसी भी नाकवाले या बिनानाकवाले, महल या झोपड़ी वाले की सच्चाई छिपी नहीं रहती। और उनका सम्मान किसके लिए? क्या उनके लिए जो रात में इन्हें नंगा कर दिन के उजाले में खुद को इज्जतदार घोषित करते हैं। वेश्याओं से बेहतर कौन जान सकता है उनकी सच्चाई?

'पूछत स्याम कौन तू गोरी' शीर्षक में सुकीर्ति गायत्री से मिलती है उससे मिलकर सुकीर्ति को पता चलता है कि गायत्री शादीशुदा और दो बच्चों की मां है।

गायत्री से सुकीर्ति ने पहली बात यही पूछी थी कि सिंदूर लगाकर इस धंधे में तुम्हें कुछ असुविधा नहीं होती, अटपटा नहीं लगता? एकदम सीधा सपाट सा जवाब दिया था गायत्री ने—"मैं जिस गांव

से आती हूँ वहाँ सभी जानते हैं कि पति ने मुझे छोड़ दिया है, फिर भी यदि मैं सिंदूर नहीं लगाऊंगी तो लोग मुझे बदचलन कहेंगे, फब्तियां कसकर जीना हराम कर देंगे। मेरी सास भी मुझसे सम्बंध तोड़ लेगी।[16]

यह सच्चाई है उस, पुरुष प्रधान समाज की जहाँ पति के छोड़ने के सारे कारण स्त्री पर मढ़कर उसे ही कुसूरवार समझा जाता है और दोनों के अलग होने पर भी स्त्री को पति के झूठे सहारे की मदद लेकर समाज में रहना होता है। और स्त्री को इज्जत भी तभी मिलती है जब उसके पीछे कोई पुरुष हो।

बातों ही बातों में सुकीर्ति और गायत्री पाप-पुण्य को लेकर बात करती है। गायत्री के पूछने पर कि पाप क्या है? सुकीर्ति निरुत्तर हो जाती है।

गायत्री जिसने इतनी जिल्लत, गंदगी और नरक के बीच भी सौन्दर्य की डोर थाम रखी है, जो फिर भी वेश्या कहलाती है, क्योंकि देह की शुचिता को परिस्थिति वश वह निभा नहीं पाई इसलिए समाज की नजरों में वह पापी है। सुकीर्ति पाप पुण्य की बात सोचती हैं। बिना प्रेम देह भोग व्यभिचार है तो क्या बिना श्रम फाटके से आया पैसा व्यभिचार नहीं आगे कहती हैं–

"क्या यह वारांगना चरित्र नहीं? जो समाज वेश्याओं को इतनी घिनौनी और तिरस्कार भरी नजरों से देखता है, उसी समाज की चेतना इन आर्थिक अपराधियों के लिए इतनी भोथरी क्यों हो जाती है? उद्योग पति का जामा पहने वह भंसाली क्या नई वेशओं को बाजार में लाने का अपराधी नहीं? निम्न मध्यमवर्गीय परिवारों की वह गाढ़ी मेहनत की संचित पूंजी, जो बच्चों की शिक्षा या लड़कियों के विवाह के निमित्त अलग से संचित कर रखी गई थी, लुट जाने पर तन और मन से हताश हुए मां-बाप क्या कर पाएंगे पुत्रियों की शादी? क्या इन अविवाहित पुत्रियों में से कोई वेश्या नहीं बनेगी? आंकड़े बताते हैं कि पंचानबे प्रतिशत वेश्यावृत्ति इस देश में दरिद्रता की कोख से उपजती है।"[17]

'न अल्पे सुखम् अस्ति' में गायत्री से मुलाक़ात के दौरान ही सुकीर्ति का परिचय इंद्राणी दी से होता है। इंद्राणी दी 'संलाप' नाम की सामाजिक संस्था की संस्थापक सदस्य है। संलाप देह गाथा के विराट् परिदृश्य के बीच, छलकपट और भोग के संसार में छटपटाती स्त्री की बेबसी को सहारा देती है। वर्तमान समय में यह संस्था बाल वेश्यावृत्ति के विरुद्ध अभियानबद्ध होकर कार्यरत है, जो

उपन्यास का सकारात्मक पक्ष है।

इंद्राणी दी से मिलकर सुकीर्ति को सुकून सा मिलता है कि, कोई तो है जो सच्चे अर्थों में वेश्याओं के लिए चिंतित है। उन्हीं दिनों तुलसी नाम की एक तेरह वर्षीया नेपाली वेश्या से सुकीर्ति की मुलाकात होती है, जो बम्बई के जे. जे. अस्पताल में तीन-तीन गुप्त रोगों का शिकार है। महज तेरह वर्ष की अवस्था में उसका शरीर घिनौना हो चुका था। वह नेपाल से भगाकर यहाँ के चकले में बेच दी गई थी।

अगले शीर्षक 'धरती के शेषनाग' में सुकीर्ति की मुलाक़ात चंद्रिका नाम की वेश्या से होती है। 'चन्द्रिका' सोनागाछी की ही एक वेश्या थी परन्तु दो वर्षों से संलाप द्वारा परिचालित वेश्या सुधार कार्यक्रम से जुड़कर उसका आत्मिक उत्कर्ष हो रहा है। वह अब नाबालिग लड़कियों को धंधे में फंसा देखकर तुरंत इंद्राणी दी तक खबर पहुंचाने की कोशिश करती है, अपने इसी प्रयास के चलते उसने दो लड़कियों को वेश्या होने से बचा लिया।

यह बात साबित करती है कि वेश्याएं प्राकृतिक रूप से बुरी नहीं होती और उनके अन्दर भी सुधार की संभावनाएँ हैं।

'ह्वेन रेप इज इन एविटेबल'... राजस्थानी कहावत है 'जणा-जणा रा तंत राखती, वेश्या हो गई बाँझ' अब तक सुकीर्ति को यही लगता था कि वेश्याएं बांझ होती हैं पर पिंकी नामक वेश्या से मिलकर उसका पिछला पढ़ा-सुना शून्य हो जाता है जब वे देखती है कि पिंकी ही नहीं अधिकांश वेश्याओं के दो-तीन बच्चे हैं।

पिंकी न तो किसी मजबूरी में वेश्या बनी थी और न ही धोखे से उसे यहां बेचा गया था। वह खानदानी वेश्या थी। उसने अपनी आँखें इसी वातावरण में खोली थी इसलिए उसके लिए यह जीवन नया नहीं। वेश्या जीवन के संस्कार उसे अपनी मां से विरासत में मिले थे।

पिछले दो तीन महीनों से खराब तबियत के चलते धंधा नहीं कर पाने और इस कारण बिजली का बिल न भरे जाने से बिजली काट दी गई। गंदगी के कारण पिंकी के पूरे जिस्म पर दाने निकल आए हैं।

इसी शीर्षक में सुकीर्ति और मेघेन की पुनः मुलाकात होती है तो वह सवाल करती है कि क्या किसी ने भी अनादि काल से चली आ रही इस समस का समाधान नहीं खोजा?

मेघेन ने भी नपे तुले शब्दों में जवाब दिया—कि नारी के अधिकारों के प्रति लड़ने वाले इन कम्युनिस्टों तक का रवैया वेश्याओं के प्रति क्रान्तिकारी नहीं रहा। सेक्स के प्रति सभी बुद्धिजीवियों का रवैया ढुलमुल सा रहा, यहाँ तक कि "पारम्परिक वैवाहित बंधन में बंध जाने के पश्चात भी मार्क्स ने अपनी प्रेमिका-पत्नी जेनी के बीमार और कुरूप हो जाने पर अपनी नौकरानी से सम्बंध स्थापित किया और उससे एक अवैध संतान की भी उत्पत्ति की।'[18]

यह रवैया था समाज के बुद्धिजीवी वर्ग का जिसने सुविधाओं के चलते कभी इस बुराई का विरोध नहीं किया। 'स्त्री को स्त्री की मर्यादा मार्क्सवाद भी नहीं दे पाया। हाँ, इनके नए समाज में इतना जरूर हुआ कि एक श्रमिक के रूप में स्त्री को पुरुष के बराबर का दर्जा दिया गया।'[2]

मेघेन आगे बताता है कि इतिहास में सती प्रथा के खिलाफ एवं विधवा विवाह के लिए भी आंदोलन हुए, पर वेश्या उन्मूलन के लिए आज तक भी कोई आगे नहीं आया। शायद इसलिए कि सती प्रथा और विधवा विवाह की समस्या सिर्फ कुलीन और अभिजात्य वर्ग की समस्या थी। या यह भी समझ लो कि पुरुष वर्चस्व वाले हमारे समाज में वेश्या समस्या को कोई समस्या ही नहीं समझा गया, वरन् इसे समाज के लिए उसी प्रकार जरूरी और अपरिहार्य समझा गया जिस प्रकार गंदगी निष्कासन के लिए गंदी नालियां।

पत्रकार सुकीर्ति का दूसरा पड़ाव शुरू होता है 'नाले में फाल्गुन' नामक शीर्षक से। यह पड़ाव सोनागाछी से होकर कालीघाट तक का है।

'कालीघाट' कलकत्ता का दूसरा सबसे बड़ा वेश्या बाजार है। यहाँ की वेश्याओं के चेहरों पर सोनागाछी जैसा ही दीन हीन मौन आमंत्रण होता है और होंठों पर बेबस मुस्कान होती है। सस्ती क्रीम, लिपिस्टिक से रंगे चेहरे, सस्ती सूती साड़ी पहने लड़कियाँ यहाँ गालियों के मुहाने पर ही पंक्तिबद्ध खड़ी रहती है। यहाँ बहुत सी वेश्याएं "अधिया शैली में पेशा करती हैं। 'अधिया' शैली शोषण मूलक है। यानी मकान की मालकिन अपने कमरे में रहने वाली वेश्या से उसकी कमाई का आधा ले लेती है। बदले में किराया नहीं लेती। प्रायः बूढ़ी वेश्याएं ही इस 'अधिया' को करती हैं।[1]

"कालीघाट की बड़ी-बड़ी गली, जहां न कोयल कूकती है, न फूल महकते हैं, न ही समीर अठखेलियाँ करता है।.....यहाँ पतझड़ के ठूंठ हैं। हवा में घुटन है। बदबू है, वातावरण में है जी

मचलाने वाली सड़ांध। आसपास मंडराते सूअर, इन सभी के होने से गंदगी अपने वीभत्स रूप में है।''[19]

यहीं रहती है माया देवदार, जो वेश्या जीवन के अपने अनुभवों से परिचित कराती है सुकीर्ति को। माया देवदार के साथ बैठी हुई सुकीर्ति सोच रही है कि–

''ऐसी जी मिचला देने वाली गंदगी और बदबू मारती हवा के बीच कोई ग्राहक कैसे पाता होगा प्रेम की मानसिकता और कैसे ला पाता होगा इन सूखी, मुरझाई, उदास एवं सुदीर्घ प्रतीक्षा से उकताई इन प्राणहीन सर्वभोग्या को देह के स्तर पर। कोई जानवर ही तृप्त होता होगा ऐसे परिवेश में।''[20]

तभी सुकीर्ति को याद आया कि बहुत पहले उसने एक कहानी पढ़ी थी जिसमें एक कामुक व्यक्ति अस्पताल के मुर्दाघर में लाशों के ढेर के बीच सम्भोग करता है।

विश्व प्रसिद्ध कहानीकार मंटो की कहानी 'ठण्डा गोश्त' भी कुछ ऐसा ही दृश्य प्रस्तुत करती है।

मधु काकंरिया के उपन्यास में आई अधिकांश वेश्याएं गरीब और अनपढ़ है। जो अपनी दुनिया के अलावा बाहर की दुनिया से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं–

''बातों में चपटती एवं हंसमुख माया की चेतना के आकाश में भी अन्य वेश्याओं की ही तरह सामान्य ज्ञान की कोई खिड़की तक नहीं थी।

देश का प्रधानमंत्री कौन?

नहीं मालूम।

सोनिया गांधी का नाम सुना है?

उसकी तो हत्या हो गई न।''[21]

वैसे भी इन्हें मतलब कैसे हो प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति से, कोई भी तो नहीं समझता इनकी पीड़ा। और कोशिश नहीं करता इन्हें गंदगी से निकालने की।

माया देवदार के प्रति नफरत से भर जाती है सुकीर्ति, जब माया उसे नाबालिग लड़की से वेश्यावृत्ति कराने का उपाय बताती है।

''सुकीर्ति–क्या है तुम्हारी भावी योजनाएं...?

हंस देती है वह। दूसरी वेश्याओं से वह भाग्यशाली है कि उसके पास अपना एक कमरा है, बहुत सस्ते भाड़े पर जिसमें वह चाहती है किसी छुकरी को रखना। क्योंकि कितने दिन की और जोबना

कितने का है? हद से हद पांच वर्ष और उसके बाद भी तो चाहिए आमदनी का कोई जरिया।

लेकिन छुकरी यानी बाल वेश्या, अरे यह तो सरासर गैर कानूनी है। "माया—इसीलिए तो डर लगता है, अरे जरा भी हिम्मत दिखाती तो पिछली काली पूजा में ही अच्छी खासी छुकरी आई थी। खरीद सकती थी।

कितने साल की छुकरी थी...?

होगी कोई ग्यारह-साढ़े ग्यारह साल की।

लेकिन इतनी कच्ची उम्र क्या प्राकृतिक रूप से अपरिपक्व नहीं, देह भोग के लिए?

उसका भी रास्ता है सुकीरती जी।

क्या?

किसी भी छुकरी के उस अंग (आंख के इशारे से समझा देती है) में शोला (कागज का बना पदार्थ जो पानी पड़ने से फूल जाता है) डाल दिया जाता है। जैसे-जैसे पानी में शोला फूलता है वैसे-वैसे लड़की के अंगों में भी फैलाव आ जाता है।

क्या? अविश्वास से सुकीर्ति का मुंह खुला रह गया।"[22]

यह सब सुनकर सुकीर्ति को माया देवदार से घृणा सी होने लगती है और वह उठकर अपने ऑफिस चली आती है पर यहां भी वह चैन नहीं ले पाती कि उसे कोई खबर देता है कि—

'मन्नालाल पुलिस हिरासत में हैं।

क्या...क्यों? सुकीर्ति जैसे आसमान से गिर पड़ी थी।

"जाली शेयर बेचने के अपराध में...।[2]

यह सब सुनकर वह चिंतित हो जाती है अपने भविष्य के बारे में कि अब क्या होगा उसका, तथा इसी उधेड़बुन में वह विजय को फोन करती है।

विजय जिससे लेखिका प्रेम करती है, परन्तु उसे जीवन के दाग़दार पृष्ठ कि वह एक बाद वेश्या एक पास गया था उसका प्रेम विजय से विमुख हो जाता है। लेखिका अब उससे घृणा करती है प्रेम नहीं।

विजय के आने पर दोनों फिर से वेश्या जीवन के इतिहास के पन्नों को पलटते हैं।

आगे 'बोंसाई और वेश्या' शीर्षक में लेखिका समाज द्वारा हाशिए पर डाल दी गई इन स्त्रियों के

प्रति रवैये को महसूस कर उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। विजय जब सुकीर्ति से अपने एक मित्र की वेश्यागामी प्रवृत्ति का जिक्र करता है—"पूरा हरामी है साला, खुलेआम कहता है कि अब तक अड़तालीस टेस्ट कर चुका हूँ। ईश्वर ने चाहा तो आधे शतक से ऊपर ही पहुँचूँगा। उसे तो बस कोई साड़ी वाली दिखनी चाहिए। घर की नौकरी तक को नहीं छोड़ा हरामी ने... ।"[23] सुकीर्ति का गुस्से लगातार बढ़ता जा रहा था। विजय की बात पूरी होते ही गुस्से से उबल पड़ी और बोली—

"अरे जो पुरुष अड़तालीस स्त्रियों के समक्ष स्वयं को प्रस्तुत कर चुका वह पुरुष ही कहां रहा, वह तो खुद पुरुष वेश्या बन चुका...अड़तालीस स्त्रियों की जरूरत पूरा करने वाला।"[34]

आगे के शीर्षक में सुकीर्ति की मुलाकात द्वारिका सिंह से होती है, जो इंद्राणी दी के कहने पर सुकीर्ति को फोन करके मिलने के लिए कहते हैं क्योंकि एक फ्लैट में कई लड़कियां पकड़ी गईं हैं जिनमें सुकीर्ति की आया की बेटी के भी होने की संभावना प्रकट की गई थी। परन्तु जब वह बताए गए गंतव्य पर पहुँचती है तो न तो आया की बेटी उसमें होती है और न ही सुकन्या यानी उसकी सहकर्मिणी।

'द्वारिका सिंह' शीर्षक चेतना खो चुके व्यक्ति की चेतना प्राप्ति की कहानी है, जिनके जीवन में बाबा और वेश्या दोनों का सह अस्तित्व था। वे नियमित वेश्यागामी थे और जाने कितनी लड़कियाँ उनकी हवस का शिकार बन चुकी थीं। एक बार पिनाकी नामकी वेश्या ने उन्हें दो दिन पूर्व ही आई एकदम नई छोकरी दे दी। आज तक किसी लड़की पर उनकी ममता नहीं उमड़ी थी, पर इस लड़की की आँखों में जाने क्या था जिसे भेदकर वे काम के रास्ते आगे नहीं बढ़ सके। फिर भी उन्होंने लड़की से रटा-रटाया संवाद किया—'मेरी प्यारी मलका, मेरी चन्द्रमुखी, तुम यहाँ कैसे आ पहुँची, बड़ा दुःख होता है तुम्हें यहाँ देखकर।'[1]

उनका इतना ही बोलना था कि सांत्वना से बल पाकर आंखों से आंसू झर झर बहने लगे। वह करुणा जगाती कटती गाय की तरह बिलबिलाने लगी—"आमाके छेड़े दाओ, अमि भालो मेय—एई गुलो नोगरा काज - आमा के भालो ना लागे (मुझे छोड़ दीजिए, ऐसा गंदा काम मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता) यह कहकर वह अपने पूरे वेग से रोने लगी। छाती चीरकर फूटी उसकी रुलाई। अवाक् और भौचक्क द्वारिका सिंह देखते रह गए उसे। किंकर्त्तव्यविमूढ़ से बैठे रहे। अडोल। पानी पीकर कुछ चैतन्य हुए और भीतर आत्मग्लानि, लज्जा और पाप-भावना की जो मरोड़ उठी थी उसी के स्थान

पर वात्सल्य से लड़की पर हाथ फेरा। और तभी से बदल गई उनकी जिंदगी।''[25] आज द्वारिका जी संलाप संस्था के सदस्य के रूप में वेश्या उन्मूलन जैसे कार्य में लगे हैं।[2]

कालीघाट में जिस समय सुकीर्ति माया देवदार से मिली थी उसे तनिक भी आभास नहीं था कि माया की जिंदगी की उल्टी गिनती शुरू हो जाएगी।

छोटी-छोटी बच्चियों को शोला डालकर टब में बैठाने वाली माया का खून उस समय खौल गया जब उसकी अनुपस्थिति में सिकी ने उसकी चौदह वर्षीया बेटी को वेश्या बना डाला।

माया एड्स की शिकार होने की वजह से अस्पताल में थी जब रोज आने वाले ग्राहक ने उसे न पाकर उसकी बेटी के साथ दुराचार किया पर ऐसा करने के बाद वह जैसे ही खोली से बाहर निकला माया ने मांस काटने की बोटी (गंडासा) उसे खोलकर दे मारी और आदमी ने वहीं छटपटाते हुए अपनी गर्दन लटका दी। लेखिका का 'कर्म का सिद्धान्त' शीर्षक दिखाता है कि व्यक्ति जैसा भी अच्छा बुरा करता है उसकी सजा या फल उसे जरूर मिलता है और जैसा बोता है वैसा ही काटता है इसलिए माया को भी उसके किए की सजा अपनी बेटी के वेश्या बनने पर भोगनी पड़ी क्योंकि वह अपनी बेटी को इस नर्क से दूर रखना चाहती थी।

'बुद्ध और मार्क्स' में सुकीर्ति-विजय संवाद है जिसमें सुकीर्ति विजय से वेश्यावृत्ति को उद्योग का दर्जा और वेश्याओं को यौनकर्मी कहे जाने या नहीं कहे जाने के बारे में सवाल करती है। शुरू में जो पत्रकार सुकीर्ति वेश्या उन्मूलन की बात पर ज्यादा ज़ोर देती थी वो आज समस्या की गहराई और उसके मूल कारणों को समझ चुकी है कि—''चमत्कारिक ढंग से यदि एक रात में वेश्यावृत्ति पर रोक लगा भी दी जाए, तो ये वेश्याएं भूखी मर जाएगी, न कोई शिक्षा इनके पास है और न ही अन्य विकल्प और न किसी अन्य का संरक्षण। आज निन्यानवे प्रतिशत वेश्याएं पेट की मारी हैं शायद ही इनमें कोई तबियत की मारी हो। सिर्फ इतना भर कह देना कि उन्मूलन होना चाहिए समस्या की जड़ों को नहीं वरन् सिर्फ उसके पत्तों और शाखाओं को देखना है।[26]

असल में वेश्यावृत्ति इतनी सरल और इकहरी समस्या नहीं कि आर्थिक सहायता, कड़ी सुरक्षा और कानूनी अधिकारों की सहायता मुहैया करा कर इसे समाप्त किया जा सके। इस समस्या का एक छोर यदि समूचे परिवार की आर्थिक मजबूरियों में धंसा है जो देश की अर्थव्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह खड़ी करती है तो दूसरा छोर विवाह (एकल विवाह) संस्था के संरचनात्मक ढांचे के साथ बहुत

गहरे जुड़ा है।

इसलिए समस्या पर प्रहार करने के लिए सामाजिक आर्थिक संरचना को बदलना होगा जो सबके हित में हो, क्योंकि आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और उससे भी बढ़कर सांस्कृतिक परिवेश किसी औरत को वेश्या बनने पर मजबूर करते हैं।

'रेड लाइट से रेडक्रास' पत्रकार सुकीर्ति के जीवन का विरोधाभास प्रकट करता है कि एक ओर तो वह वेश्या सुधार, वेश्या समस्या को गहराई से समझने के लिए बार-बार लालबत्ती इलाकों में जाती है पर जब वह उनकी सच्चाई से परिचित हो जाती है तो बुलाने पर भी वहाँ नहीं जाना चाहती, क्योंकि अब कहीं न कहीं स्त्री अस्मिता और उसके खोज जाने का डर है। तभी जब तक औरत उसे पिंकी की तबियत खराब होने की बात बताकर वहाँ चलने को कहती है तो सुकीर्ति सोच में पड़ जाती है—

'जाऊँ न जाऊँ उन गलियों में? पिंकी ने क्यों बुलाया? पहले का जाना और था, तब इण्टरव्यूह लेने वाली की हैसियत से गई थी उन गलियों में, पर इस बार का जाना तो सम्बंधों पर स्टाम्प लगाने जैसा ही होगा। उन बदनाम गलियों से सम्बंध की डोर जोड़ लेने पर क्या संभव है इस दुनिया में टिके रहना। कौन जाने कोई पहचान ही जाए...बार-बार उस महिला के यहाँ आने पर फिर...फिर क्या बची रह पाएगी प्रतिष्ठा।[27]

पढ़े-लिखे होने के बावजूद सुकीर्ति इस पुरुष सत्तात्मक सच्चाई से भिज्ञ है जो वेश्याओं को बुरी औरत कहकर समाज से दूर रखना चाहता है और इनसे सम्बंध रखने वालों को भी उसी निगाह से देखता है खासकर स्त्री को।

''मन को फिर टटोला उसने...अपनी कमजोरियों का किस प्रकार बचाव कर लेता है छलिया मन। वेश्याओं से बात करना एक बात है पर उनके काम आना, उनके साथ अपने सम्बंधों को उजागर करने का खतरा उठाना-एक बात है। जिगर चाहिए। हिश! कितना अन्तर है उसके चिन्तन और व्यवहार में।[28]

सुकीर्ति समाज से अपमानित होने के डर को किसी भी प्रकार निकाल नहीं पाती और उस दिन विचारों की उधेड़बुन में लगी रहती है तथा पिंकी के पास नहीं जाती। परन्तु दूसरे दिन खुद को यह तर्क देकर कि—संगमरमर पर कितना ही कीचड़ उछालों, चिपकता नहीं। पिंकी से मिलने पहुँच जाती है।

'यह सलाम आख़िरी है' में सुकीर्ति पिंकी से मिलती है। ''पल-पल मौत की ओर बढ़ रही और जिन्दगी से दूर जाती पिंकी की उन सफेद पड़ी आंखों में जैसे ब्राह्मण्डा की बेबसी और लाचारी मूर्तिमन्त हो उठी थी। अपने कर्त्तव्यों और बच्चों के लिए। हर आती जाती सांस जैसे हाहाकार करती चिल्ला रही थी मैं जीना चाहती हूँ मैं, मरना नहीं चाहती।[29]

अब तक कमरे में पहले जैसी उमस और गरमी थी। सहकर्मिणी वेश्या-रेशमी ने जब पिंकी से पूछा—कैसा लग रहा है?—''जवाब में आँखों से कुछ बूँदें लुढ़क पड़ी उसकी। ''मैं वेश्या, मेरी मां वेश्या, बहन वेश्या, और अब यह पुत्री भी इसी दुनिया में...ईश्वर अगले जमन में कुछ भी बना दे. ..चली, कौआ, सांप, गाय...पर वेश्या...नहीं।''[30]

पिंकी के बचने की अब बिल्कुल उम्मीद नहीं थी। उसके पूरे जिस्म में जहर फैल गया था और कोई डॉक्टर उसको भर्ती करने को तैयार नहीं था।

दूसरे दिन जब सुकीर्ति वहां पहुंची तो पिंकी मर चुकी थी पर उसकी अधखुली आंखें, अधखुले होंठ जैसे कह रहे थे—''या खुदाया, इस दुनिया ने रंडी बनाया, शायद वह दुनिया इतनी बुरी न हो।''[31]

पिंकी की मौत वेश्या जीवन की घुटन बेवसी और पीड़ा की कहानी सुनाती है जो बहुत ही मार्मिक है।

कई-कई गुप्त रोगों से पीड़ित होकर मरना मात्र पिंकी की ही नहीं बल्कि पूरे वेश्या जीवन की त्रासदी है। रेशमा भी सुकीर्ति को बताती है कि अभी वह सिर्फ चालीस वर्ष की है और उसकी जांच होने पर एच. आई. वी. पॉजिटिव आया है। बस तीन-चार वर्ष की जिन्दगी और है उसके पास।

सचमुच कितना भयंकर होता होगा कुछ ही समय बाद अपनी मौत को निश्चित जानकर।

सुकीर्ति रेशमा को इलाज करवाने की सलाह देती है पर प्रतिशोध की ज्वाला इतनी भयंकर है कि उसे उस आग में स्वयं के जलकर मरने का कोई भी भय नहीं—''मुझे नहीं करवाना 'अपना इलाज-विलाज। विनाश की इस सौगात को संभालकर रख रही हूँ उस व्यक्ति के लिए जिसने मुझे रंडी बनाया— जिसने मुझे एक ही रास्ता दिखाया जांघों का रास्ता, वह भी तेरह वर्ष की उम्र में। मैं दिन-रात उसे ढूँढ़ रही हूँ।'[32]

सुकीर्ति उसकी बातों की गंभीरता को भापकर पूछती है—क्या गारंटी की तुम्हें वह आदमी मिल ही जाएगा?

साड़ी के पहलू को कमर में खोंसते हुए–''खून का बदला खून' के अंदाज में बोलने लगी, वह जब तक नहीं मिलता मैं सम्पूर्ण पुरुष जाति से बदला लूगी, उन सब पुरुषों को यह बीमारी दूंगी जो यहां आते हैं।[33]

रेशमा की बातों में प्रतिशोध से अधिक पीड़ा है, जो आज तक वह भोगती रही वेश्या बनने के बाद।

उपन्यास का अंत पिंकी की मौत और उसकी बेटी 'मल्का' के वेश्या बन जाने के साथ होता है। रेशमा भी एड्स का शिकार होने के कारण एवं चर्म हो जाने से आखिरी दिनों में भिखारी बन जाती है और एक दिन विक्षिप्तावस्था में भीख मांगते मांगते उसकी मौत हो जाती है। किसी भी वेश्या का अन्त सुखदायी नहीं–चाहे वह माया देवदार हो पिंकी हो या रेशमा।

अन्तिम क्षणों में लेखिका ने बताने की कोशिश की है कि गांधी और ईसा जो समाज सुधार की मूर्ति माने जाते थे उन्होंने भी वेश्याओं के लिए कुछ नहीं किया।

उपन्यास की सूत्रधार सुकीर्ति में लेखिका की छाया है। उंसके विचार लेखिका के अपने विचार लगते हैं। उपन्यास की शुरूआत से उसके अंत तक, जहाँ पिंकी आख़िरी सलाम की सांसे गिन रही है। सुकीर्ति मार्क्स, गांधी, विवेकानंद जैसे महान व्यक्तियों की तो चर्चा करती है पर कहीं भी यह चर्चा नहीं करती कि किसी व्यक्ति ने वेश्याओं के खिलाफ अपनी आवाज को बुलंद किया हो इस कारण पाठक को उपन्यास पढ़कर हमाशा प्राप्त होती है। सलाम आखिरी पर आधारित रंजना श्रीवास्तव अपने एक लेख 'देह व्यापार : अभिशप्त जीवन का कठोर सच' में लेखिका की कमजोरी या कमजोर पक्ष को उजागर करती हैं–

''पूरी विधा में पत्रकारिता जैसी निर्भीक विधा से जुड़ी सुकीर्ति का चरित्र एक अजीब से कोहरे द्वन्द्व से घिरा मालूम होता है। इन बदनाम गलियों की खाक छानती एक निर्भीक पत्रकार क्या सिर्फ देह शोषण की चरम सीमाओं को जानने व उनकी दुःखभरी गाथा का व्याख्यान करने से ही अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री कर लेती है। वह इनके शोषण के विरुद्ध कोई ठोस कदम उठाने का साहस क्यों नहीं करती। कथा के शुरू में जब मेघेन को वह इस बात के लिए लताड़ती है कि तुम लोग जिन गलियों में जाने से कतराते हो वहाँ मैं एक स्त्री होते हुए भी जा रही हूँ, जबकि बदनामी का डर मुझे ज्यादा होना चाहिए, पर बीमार पिंकी अपनी सहायता के लिए जब उसे पुकारती है तो उसी निर्भीक

पत्रकार को साँप क्यों सूंघ जाता है? क्या अपनी इन हरकतों से वह अपनी कमजोरी का इज़हार नहीं करती?[34]

यह आलोचना सही नहीं है वास्तव में पत्रकार सुकीर्ति को पूरी तरह से लेखिका का प्रतिनिधि मानना सही नहीं है। वास्तव में लेखिका ने पत्रकार सुकीर्ति के माध्यम से शहर की मध्यम वर्गीय स्त्रियों की सीमाओं को ही दिखाया है वे पत्रकार के रूप में वेश्या जीवन की जानकारी तो बटोरती हैं लेकिन अपने मध्यम वर्गीय चरित्र के कारण उन वेश्याओं के लिए कुछ नहीं करतीं।

रिपोतार्ज शैली में लिखे इस उपन्यास की वर्णनात्मकता से कहीं-कहीं सपट बयानी का आभास होने लगता है। लेखिका की मूल भाषा बांग्ला होने के कारण उसकी छाप शुरू से अन्त तक उपन्यास को पृष्ठभूमि से जोड़े रखती है जो किसी भी उपन्यास के लिए महत्वपूर्ण है।

भाषा के स्तर पर यथार्थ चित्रण की अनुभूति में पगी लेखिका भाषा का इस्तेमाल उन्हीं औरतों के स्तर पर आकार करती हैं। जिन्दगी के त्रासद अनुभवों को खांचा खींचने के लिए लॉग लेट, शॉर्ट रेट, लाइनवालियां, छुकरी, अधिया, जोवना, अंगना जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही अंग्रेजी के कुछ शब्दों का प्रयोग कर गंदे शब्दों के प्रयोग से खुद को बचा लिया है। क्योंकि लेखिका के पास एक सीमा थी जो उसने आप ही तय की थी समाज की उपेक्षित दृष्टि से बचने के लिए।

''यह सही है कि उपन्यास क्रमशः इस विचार तक खींच ले आता है कि कोई भी विचारधारा जो सचमुच मानव जीवन के काम नहीं आ सकती, बेकार है, आलोच्य है लेकिन समाधान तो खुद रचनाकार के पास भी मौजूद नहीं, वह विचारों की नदी में बहती रहती है। कपटतापूर्ण बनाए गए स्त्री संबंधी विधान की कलई खोलते हुए रचनाकार नैतिक-अनैतिक के द्वंद्व तक जा पहुँचती है।

अपनी तमाम जानकारियों की उपन्यास में भर देने के लालच से खुद को बचा नहीं पाई है रचनाकार। बीच-बीच में अनेक कथाएं आती-जाती रहती है, लेकिन वे उपन्यास की गति को तो तोड़ती ही हैं, अपनी संगति भी नहीं बिठा पातीं। पत्रकार सुकीर्ति कथा की आधार संवाहिका है, कथा उसके साथ-साथ चलती जरूर है, पर वह मुख्य कथा का हिस्सा नहीं, विचार और कारणों की खोज में लगी सहयोगी भर है।

''सलाम आख़िरी को समर्पित किया है मधु कांकरिया ने पुरुषों के लिए, तो यह ठीक भी है, दरअसल यह लताड़ पुरुष की उस आदिम लालसा के प्रति है जो स्त्री को वस्तु में तब्दील कर डालती

है यही नहीं पुरुष का नीच पौरुष भी यहीं सर्वाधिक एक्सपोज होता है। एक हिन्दू ब्राह्मण पुरुष की उक्ति देखिए—क्या कहा, मोहम्डन भी है, तब तो हम जरूर जाएंगे....उसे पवित्र करने यही तो जीत होगी हमारे ब्राह्मणत्व की।''[35]

यह है भारतीय पुरुषों का दम्भ जो जातीय दम्भ के वशीभूत होकर स्त्री को इसलिए भी बरबाद करना चाहता है कि वह किसी अन्य धर्म और जाति की है और स्त्री की इज्जत से खेलना उस वर्ग विशेष की इज्ज़त से खेलना या उस पर जीत हासिल करना है।

''संवेदनशील खोजी पत्रकार के प्रबुद्ध वैचारिक आलोड़न का परिणाम है मधु कांकरिया का उपन्यास 'सलाम आख़िरी' जो बारूदी सुरंगों पर बिछी वेश्याओं की जिन्दगी का प्रामाणिक दस्तावेज होते हुए भी उस अर्थ में वेश्या-जीवन का उपन्यास नहीं जिस अर्थ में जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का उपन्यास 'मुर्दाघर' है। यहाँ सच्ची संवेदना और सहानुभूति का एक बिंदु प्रसार पाकर आंसू भरी करुणा में नहीं झरता, बौद्धिक विश्लेषण की चौहद्दियों में प्रवेश होकर सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक व्यवस्थाओं की अंतर्निहित विद्रूपताओं पर जता-जता कर धन की तरह चोट करता है—निरंतर और अविराम बेशक इससे रचना के फार्म को क्षति पहुँची है—उपन्यास से फिसल कर वह रिपोर्ताज बन गया है जहाँ बहस से ढलती भाव-लहरियाँ तो पात्रों के नाम एक दूसरे से गड्डमड्ड हो जाते हैं और घटनाओं के नाम पर आवृत्तिपरक विवरण और संवेदना के बहुरंगी शेड्स-आक्रोश, क्रोध जुगुप्सा, घृणा, प्रतिशोध, व्यंग्य, बेबसी, ग्लानि, घुटन, तनाव....। ज़ाहिर है उपन्यास जिन्दगी की रवानगी की मुकम्मत तस्वीर नहीं बल्कि जिन्दगी के ठहराव और सड़ांस का कोलाज है।

संवेदना और व्यंग्य, आक्रोश और ख़ौफ के रंग-कूची से रचना है लेखिका ने वेश्याओं की जिन्दगी का एकरस समरूपी इतिहास,''जहां हर गली और मोड़ मंजिल के नाम पर सिर्फ डेड एड्स तक पहुंचने का जरिया है। इन डेड एड्स पर एक ओर खड़ी है एक-सी भुखमरी, बलात्कार और इन्सेस्ट अतिचार की शिकार मीना, नलिनी, रमा, गायत्री, माया, रेशमी तो दूसरी ओर है पिंकी जैसी खानदानी वेश्या। उल्लेखनीय है कि दुर्दान्त सच्चाइयों से सीधा साक्षात्कार करा देना लेखिका का अभीष्ट नहीं, सवाल दर सवाल उठा कर उसे एक सामाजिक राष्ट्रीय बहस का रूप देना ही उपन्यास का लक्ष्य है।

सुकीर्ति की शहादत और कन्सर्न को महिमामंडित करने में लेखिका कोई कोर कसर नहीं छोड़ती

कि–

1. 'सोचो जब इन गलियों में भीतर एक घुस कर मैं इनके घरों से निकलती हूँ तो कोई यह भी तो समझ सकता है कि मैं भी इसी धंधे में...। इतना सहज भी नहीं है इस दुनिया को जानना जनाब. ...। स्वयं को न केवल डिक्लास करना पड़ता है वरन् कई बार तो ऐसी बदबू और भयानक गंदगी के बीच रहती हैं, इनकी कोठरियां कि उससे आपको सिर्फ एक ही अनुभूति हो सकती है, जुगुप्सा की अनुभूति।'

2. 'मैं सुखी नहीं जब तक धरती पर एक भी वेश्या है। मेरे स्वयं का सम्मान सुरक्षित नहीं।

उपन्यास में कुछ कमियों के बावजूद इसे 'मुर्दाघर' (जगदम्बा प्रसाद दीक्षित) से कमतर मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं क्योंकि आक्रोश, क्रोध, जुगुप्सा जैसे भाव न केवल इस उपन्यास में निहित हैं बल्कि ये तो वेश्या जीवन के अंग बन गए हैं फिर ऐसा कैसे संभव है कि वेश्याओं की चर्चा हो और ये भाव न आएं चाहे वह नागर की 'ये कोठेवालियां' हो, दीक्षित का 'मुर्दाघर' हो या मंटो की कहानियाँ।

रजनी गुप्त उपन्यास के बारे में लिखती हैं कि– बारूदी सुरंगों पर बिछी इनकी मामूली सी जिंदगियों के बारे में सोचने और सुधारात्मक तरकीबें निकालने की जेहमत भला कौन उठाना चाहेगा? उपन्यासा में संलाप संस्था और इंद्राणी दी के वेश्या सुधार कार्यक्रम इस घटाटोप में अचानक चमकती बिजली की हल्की सी रोशनी भर है। इस चिंगारी को मशाल बनाने के लिए ऐसे कई संलापों की जरूरत है और इनसे भी बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि हमारी सोच और समझ में 'आत्मा' जैसे बंद चैनल को खोला जाए ताकि पुरुष के लिए स्त्री-देह मांस का लोथड़ा भर या 'यूज एण्ड थ्रो' या च्युंगम न हो क्योंकि हर रोज जहर पीने वाली इन वेश्याओं या इनकी संतानों के ललाट पर पैदा होते ही 'एक्सपायरी डेट' दर्ज हो जाती है।

वेश्यावृत्ति को उद्योग का दर्जा दिए जाने के मुद्दे पर लेखिका इसे हल्के ढंग से छूकर आगे निकल जाती है। वैसे भी समस्या का उन्मूलन और वेश्याओं से जुड़े तमाम सवाल अनुत्तरित रह जाते हैं–चाहे उनकी संतान का एडमीशन कराना हो सा उनके उद्धार से जुड़ी बातें हों, अमूमन इनका कोई निदान नजर नहीं आता।

इस समीक्षा से सहमत हुआ जा सकता है क्योंकि यह उपन्यास की कमजोरियों की ओर ध्यान

आकर्षित करती है।

उपन्यास इस रूप में कमजोर साबित होता है कि वह वेश्या समस्या का कोई समाधान नहीं दिखाता हो, द्वारिका सिंह जैसे व्यक्ति के हृदय परिवर्तन और वेश्या सुधार में लग जाने के कार्य से लेखिका वेश्या समस्या का एक आदर्शवादी हल तो प्रस्तुत करती है पर वह आदर्श ही रहता है।

नारायण सिंह उपन्यास के बारे में लिखते हैं कि–'सलाम आख़िरी' कुछ हफ्तों या महीनों के अंशकालिक और लगभग सुरक्षित प्रयासों से जन्मी ऐसी किताब है, जिसमें जगह-जगह यह एहसास होता चलता है कि लेखिका ने अपने अनुभव वेश्यालयों के चक्कर लगा-लगा कर अर्जित किए हैं और एक औरत होने के नाते उनका यह प्रयास पुरुषों के तुलना में अधिक दुस्साहसिक और मूल्यवान है।

वे आगे लिखते हैं कि सलाम आख़िरी में लेखिका पत्रकार सुकीर्ति के रूप में प्रारम्भ से अन्त तक उपन्यास में उपस्थित रहती है परन्तु उसकी यह उपस्थिति खंडित जान पड़ती है। यह ऐसे कि पत्रकार सुकीर्ति की देह जब वेश्यालय में सूचनाएं एकत्र कर रही होती हैं, तो उसका मन शेय मार्केट के अपने ऑफिस या अपने मित्र मेघेन और विजय के पास होता है और जब वह शेयर मार्केट, मेघेन या विजय के पास होती है, उसका मन सोनागाछी और कालीघाट की पतली गलियों में भटकता महसूस होता है। लेखिका की इस चंचलता या अस्थिरता को उनके भीतर निर्वेयक्तिकता की अनुपस्थिति के कारण पैदा हुई अस्थिरता माना जा सकता है जो पाठक का रचनाकार के साथ एकाकार होने में बाधा खड़ी करती है।

उपन्यास में वेश्यावृत्ति के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए समस्या को समझा गया है तथा उसके कारणों की तलाश की गई परन्तु इतिहास को देखकर यह नहीं कहना चाहिए कि यह समस्या हमेशा से रही है और रहेगी क्योंकि नई सोच के साथ किसी भी समस्या को समझकर उसका समाधान खोजना किसी भी प्रकार असंभव नहीं।

समस्या इतनी भी गंभीर नहीं कि उसका हल न खोजा सके यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी समझते हुए ईमानदारी से वेश्यावृत्ति के उन्मूलन की ओर ध्यान दे तो निश्चित ही इसे खत्म किया जा सकता है। और कई औरतों एवम् बच्चियों को इस नर्क के दलदल से बचाया जा सकता है। देह बाजार का यंत्रीकरण नामक समीक्षा में मधु संधु ने उपन्यास के बारे में विचार किया है–

इतिहास की विषैली विरासत को तो नहीं बदला जा सकता, परन्तु एक नया काव्य शास्त्र रच

डाला है मधु कांकरिया ने। आचार्यों की सामान्या, कुल्टा, वेश्या यहाँ नए समीकरणों के साथ आयी हैं। शृंगार रस का सृजन करने वाली करुण रस की वाहिका बन गई है।

सच ही है उपन्यास में वेश्याएं शृंगार रस का प्रचार नहीं करती बल्कि अपने जीवन के अंधेरों क्षणों पर प्रकाश डालती है जिसने उनका जीवन नरकीय बना दिया है।

इस प्रकार के वेश्या जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालता यह उपन्यास अन्य उपन्यासों की शृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी का काम करता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. उपन्यास सलाम आखिरी, मधु कांकरिया, पहला संस्करण 2002, प्रकाशन-राजकमल प्रा. लि., नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, पृ. सं.-15
2. वही, पृ. सं.-15
3. वही, पृ. सं.-14
4. वही, आत्मकथ्य
5. परिशिष्ट-गाड़ी वालों का कटरा, अलेकसान्द्र कुप्रिन, पहला संस्करण, दूसरा संस्करण, तीसरा संस्करण 1987, 1991, 1999 राजकमल पेपर बैक्स, सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-2, पृ. सं.-398-402
6. उपन्यास सलाम आखिरी, मधु कांकरिया, पहला संस्करण 2002, प्रकाशन-राजकमल प्रा. लि., नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, पृ. सं.-19
7. वही, पृ. सं.-190
8. वही, पृ. सं.-84
9. वही, पृ. सं.-14
10. स्मारिका 2002, भारतीय पतिता उद्धार सभा (पंजीकृत) सम्पादक खैराती लाल भोला
11. उपन्यास सलाम आखिरी, मधु कांकरिया, पहला संस्करण 2002, प्रकाशन-राजकमल प्रा. लि., नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, पृ. सं.-16
12. वही, पृ. सं.-18
13. वही, पृ. सं.-22
14. वही, पृ. सं.-20
15. वही, पृ. सं.-28
16. वही, पृ. सं.-35
17. वही, पृ. सं.-36
18. वही, पृ. सं.-36
19. वही, पृ. सं.-37
20. वही, पृ. सं.-49
21. वही, पृ. सं.-52

22. लेख - ये भी इंसान हैं, स्मारिका 2002, भारतीय पतिता उद्धार सभा (पंजीकृत) सम्पादक खैराती लाल भोला
23. उपन्यास सलाम आखिरी, मधु कांकरिया, पहला संस्करण 2002, प्रकाशन-राजकमल प्रा. लि., नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, पृ. सं.-67
24. वही, पृ. सं.-69
25. वही, पृ. सं.-85
26. वही, पृ. सं.-105
27. वही, पृ. सं.-106
28. वही, पृ. सं.-107
29. लेख-शैलाभ रावत, 'कलकत्ता का देह बाजार', स्मारिका 2002, भारतीय पतिता उद्धार सभा (पंजीकृत) सम्पादक खैराती लाल भोला
30. उपन्यास सलाम आखिरी, मधु कांकरिया, पहला संस्करण 2002, प्रकाशन-राजकमल प्रा. लि., नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, पृ. सं.-109
31. वही, पृ. सं.-110
32. वही, पृ. सं.-112
33. वही, पृ. सं.-113
34. वही, पृ. सं.-116
35. वही, पृ. सं.-113
36. वही, पृ. सं.-146
37. वही, पृ. सं.-146
38. वही, पृ. सं.-116
39. वही, पृ.सं.-175
40. वही, पृ. सं.-177
41. वही, पृ. सं.-183
42. वही, पृ. सं.-184
43. वही, पृ. सं.-185
44. वही, पृ. सं.-186

45. वही, पृ. सं.-186

46. देह व्यापार : अभिशप्त जीवन का कठोर सच - रंजना श्रीवस्तव कथा क्रम-जुलाई-सितम्बर 2002

47. छोड़ दिए गए विषय पर सोचने को मजबूर करता है सलाम आखिरी, महेश दर्पण हंस जून 2003, पृ. सं.-90

48. सलाम आख़िरी बीमार तंत्र, शिकार तन, रोहिणी अग्रवाल, वागर्थ, नवम्बर-दिसम्बर 2002, पृ. सं.-141

49. वेश्याओं के प्रति मन में करुणा का उद्रेक भरता उपन्यास, रजनी गुप्त, दैनिक जागरण-मंगलवार 9 अप्रैल, 2002

50. मुकम्मल ईमानदारी और खण्डित पक्षधरता के बीच का अंतराल, नारायण सिंह, पत्रिका अकार पृ. सं.-184

51. रहस्य, चकाचौंध और अंधेरा, किरण अग्रवाल, जनसत्ता, 20 जुलाई 2003

उपसंहार

उपसंहार

'सलाम आख़िरी' उपन्यास के सन्दर्भ में शोध से जो बातें निकलकर आती हैं वह ये कि वेश्यावृत्ति जैसी बुराई के लिए स्त्री स्वयं जिम्मेदारी नहीं है, बल्कि जिम्मेदार है वह सामाजिक संरचना जो किसी भी स्त्री को इस प्रकार का पेशा करने के लिए मजबूर करती है। और मजबूर की नहीं करती बल्कि उससे बाहर निकलने के सारे दरवाजे भी उसके लिए बंद कर देती है।

भारत में लंबे समय से चली आ रही देवदासी प्रथा भी विशुद्ध रूप से धार्मिक वेश्यावृत्ति ही है, जिसका संबंध लोग धर्म से जोड़ते हैं। देवदासी प्रथा ने वेश्यावृत्ति को बढ़ावा दिया। जहाँ-जहाँ देवदासियाँ थी वहाँ वहाँ वेश्यावृत्ति खूब फली-फूली। देवदासी प्रथा प्रारम्भ में तो एक व्यवहार के रूप में थी, परन्तु परिस्थितियों ने बाद में इसे धन कमाने के एक साधन के रूप में स्थापित कर दिया। आज ही की तरह प्राचीन काल में भी सरकार ने कानून बनाकर या जनमत के माध्यम से इस प्रथा को रोकने की कोशिश की परन्तु यह प्रयास पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सका। शहरों में वेश्याओं की अलग बस्तियां थी तथा उसकी एक सूची राज्य सरकार के पास होती थी। कौटिल्य ने नगर बधुओं अथवा वेश्याओं को नियंत्रित करने के लिए नियम बनाए थे। सिंधु संस्कृति से लेकर आधुनिक संस्कृति तक वेश्यावृत्ति के कई रूप सामने आए। मुस्लिम काल में भी वेश्यावृत्ति की प्रथा बहुतायत में थी। प्राचीन काल से लेकर अब तक वेश्यावृत्ति के खिलाफ चलाए गए किसी भी आन्दोलन के प्रमाण प्राप्त नहीं होते। और न ही कोई ठोस कदम उठाए जाने की जानकारी है।

वेश्याजीवन को लेकर हिन्दी साहित्य में बहुत कुछ लिखा गया और भिन्न भिन्न तरीके से वेश्या समस्या को उठाया गया है। 'किसी में उनकी जीवन शैली का चित्रण है, तो किसी में ग्राहकों द्वारा किए जा रहे अत्याचार का, कहीं पर उन्हें गंदी गलियों में लाने वाली परिस्थितियों की चर्चा है तो कहीं उसके बाद के परिणामों की। कुछ लेखक तो इनके जीवन को हल्के से छूकर निकल गए हैं तो कुछ

ने उसे करीब से जाकर समझा देखा और रचा है।

'सलाम आख़िरी' इस रूप में उत्कृष्ट है कि, यह लेखिका द्वारा वेश्याओं के भोगे हुए यथार्थ का प्रामाणिक दस्तावेज है। लेखिका वेश्या जीवन के जितने भी पहलुओं से हमें परिचित कराती हैं हम वेश्याओं के उतने ही करीब खुद को महसूस करते हैं। यदि वेश्यावृत्ति से जुड़ी औरतों के अतीत में झांका जाए तो भारतीय सामाजिक संरचना की कमियाँ खुद ब खुद प्रकट होने लगेंगी। वेश्यावृत्ति के लिए इस सामाजिक संरचना को ही इसे पूरी तरह से दोषी ठहराया जा सकता है क्योंकि इसमें पुरुषों और स्त्रियों के जीवन जीने की शर्तें अलग-अलग है। पुरुषों के लिए तो सारे नियम कानून ढीले और लचीले हैं, वही स्त्रियों के लिए सख्त और कठोर/भारतीय हिन्दू धर्म के नियम स्त्री के लिए कठोर हैं इसलिए कभी-कभी हिंदू स्त्रियां इस बंधन से मुक्ति पाने के लिए भी वेश्यावृत्ति जैसा पेशा अपना लेती हैं।

भारतीय सामाजिक संरचना में पुरुष की भूमिका अहम् है क्योंकि हमारा समाज पुरुषात्मक है और उसके नियम कानून पुरुषों के अनुसार ही बनाए गए हैं। स्त्री पर पुरुषों का पूरा अधिकार माना जाता है। वह उसे मार-पीट सकता है, घर से निकाल सकता है या वेश्यावृत्ति जैसा पेशा भी करवा सकता है, ऐसी बातें वह मानसिक रूप से स्वीकार करता रहा है। वेश्यावृत्ति को बढ़ावा देने में पुरुषसत्तात्मक समाज की भूमिका ही है क्योंकि जिस समाज में मातृसत्ता प्रमुख है वहां वेश्या वृत्ति जैसी समस्या नहीं है आर्थिक असमानता भी वेश्यावृत्ति का एक प्रमुख कारण है। आदिवासी या कबिलाई समाज के अंदर पुरुष और स्त्री दोनों आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होते हैं अतः वे इस समस्या के शिकार नहीं हैं।

उपन्यास 'सलाम आखिरी' में वेश्याजीवन को दिखाते हुए लेखिका ने इसके कारणों पर प्रकाश डाला है जो प्रत्यक्ष रूप से हमारी सामाजिक संरचना की ओर इशारा करते हैं। लेखिका ने साफ़-साफ़ दिखाने की कोशिश की है कि पुरुष किस प्रकार अपने स्वार्थ के लिए स्त्री के जीवन को अंधकारमय बना देता है। वह स्त्री को सिर्फ और सिर्फ 'देह' के रूप में ही जानता और भोगता है। उसके लिए स्त्री भोग की वस्तु है इससे ज्यादा कुछ नहीं। इसलिए शुरू से अन्त तक लेखिका ने पुरुषों के प्रति घृणा और आक्रोश का परिचय दिया है। वे आगे लिखती हैं कि–

गाँधी और ईसा जैसे मानववादियों ने भी इस व्यवस्था को चुनौती नहीं दी क्योंकि कहीं न कहीं

वे इस बात को समझ चुके थे कि लड़ाई किसी एक व्यक्ति या एक वर्ग के प्रति नहीं, बल्कि पूरी व्यवस्था के प्रति है जो वेश्यावृत्ति जैसी बुराई को बढ़ावा देती है और बनाए रखना चाहती है। कुछ खास वर्ग इससे लिए जिम्मेदार है या कहे जिम्मेदार ही नहीं शामिल भी है। यानी खामियाँ पूरी संरचना में ही हैं और संरचना में बिना परिवर्तन किए इस समस्या को जड़ से खत्म करना संभव नहीं होगा।

वेश्यावृत्ति उस समाज के पूर्ण विनाश का कारण बन सकती है जहां वह व्याप्त है। वेश्यावृत्ति के दो पहलू हैं—पहला व्यावसायिक पहलू दूसरा स्वास्थ्य संबंधी। जब वेश्यावृत्ति संस्थागत रूप धारण कर लेती है तो यह एक ऐसी सामाजिक बुराई के रूप में व्याप्त हो जाती है, जिसे सामाजिक कार्यवाही द्वारा रोकना और दूर करना अपरिहार्य हो जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

अमृतलाल नागर : सुहाग के नुपूर
पांचवा संस्करण 1991, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.,
नई दिल्ली-02,

अमृतलाल नागर : सम्पूर्ण साहित्य भाग-7
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-02

एंगेल्स : परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति
मार्क्स एंगेल्स संकलित रचनाएं भाग-2, खण्ड-3
प्रगति प्रकाशन, 1878

कमलेश्वर (सं.) : गणिका कथा
प्रवीण प्रकाश्न, मेहरौली, नई दिल्ली, 2001

कृष्ण कुमार राय : अलका (देवी वारांगणा)
प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, 2004

जैनेन्द्र : दशार्क;पूर्वोदय प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली, 1985

डब्ल्यू विलियम : द हिस्टी आव प्रोस्टीट्यूशन : कांज एण्ड इफेक्ट्स
सॉजर प्रकाशन, 1980

देबेन्द्र चौबे : समकालीन कहानी का समाज शास्त्र
प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2001

डॉ. नगेन्द्र (सं.) : हिन्दी साहित्य का इतिहास
मयूर पेपरबैक, नोएड, उ. प्र., 2000, 1973

फणीश्वर नाथ रेणु : मैला आँचल
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण 1984

बच्चन सिंह : हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., जगतपुरी, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1996

भगवाती चरण वर्मा : चित्रलेखा
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली-02, 1993

भगवान दास : दलित सॉलिडेरिटी
आई एस पी सी के कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1995

मधु कांकरिया : सलाम आख़िरी
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, 1999

मिर्जा हादी रूखा : लखनऊ की नगरवधू
राज पॉकेट बुक्स अनुवाद अनिल ठाकुल, दिल्ली, 2001

मुंशी राम मनोहर लाल (सं.) : दशकुमार चरितम्
महाकवि दण्डी सागर प्रेस बम्बई, 1973

रामविलास शर्मा : प्रेमचन्द और उनका युग
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण
1993

तोलस्तोय : पुनरुत्थान अनुवाद-भीष्म साहनी
रादुगा प्रकाशन, मास्को, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउउस, नई दिल्ली, 1977, 1986

वात्स्यायन : कामसूत्र
डायमण्ड पॉकेट बुक्स, प्रा. लि., नई दिल्ली, 1999

सआदत हसनमंटो : मंटो की विश्व प्रसिद्ध कहानियां, रजत प्रकाशन, केदार काम्पलेक्स, दिल्ली गेट, मेरठ

सुमित कारमारकर : रेडलाइट एरिया : सोशल इन्वायरमेंट ऑव सेक्स वर्क्स, डायमण्ड पब्लिशर एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर, दूसरा संस्करण, 1983

सीमोन द बोउआर : स्त्री उपेक्षिता, अनुवाद द सेकेण्ड सेक्स
अनुवादक- प्रभाखेतान, हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1990

हरि नारायण दुबे : दक्षिण भारत का इतिहास
शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 1999

पत्र/पत्रिकाएँ

अक्षर पर्व, (मासिक), दिसम्बर 2003, समीक्षा प्रेमशशांक, उपन्यास की परिधि और देहबाजार का ताना-बाना

आजकल, जनवरी-सितम्बर अंक 1990, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

इ. पी. डब्ल्यू, (साप्ताहिक), दिसम्बर 1910-1944

एथिस्ट, (मासिक) मार्च 1999, लेख डॉ. विजयम जोगिनी रीहैब्लिटेशन

कथाक्रम, (त्रैमासिक) समीक्षा मधु संधु, देह बाजार का यंत्रीकरण

जनसत्ता, (दैनिक) जून 2002

जनसत्ता, (दैनिक), 20 जुलाई 2003, समीक्षा 'सलाम आखिरी', किरण अग्रवाल

दैनिक जागरण (दैनिक) मंगलवार, 9 अप्रैल समीक्षा, रजनी गुप्त, वेश्याओं के प्रति मन में करुणा का उद्रेग भरता उपन्यास

पायनियर (लेख) नो बडीज गर्ल्स, 23 दिसम्बर, 2001

राष्ट्रीय सहारा, (दैनिक) सुधा अरोड़ा, 'हस्तक्षेप' कोठे और कानून के बीच, 3 अपैल, 2004

स्मारिका 2002 (वार्षिक) सं. खैराती लाल भोला, पतिता उद्धार सभा (पंजीकृत) उपेक्षित एवं असहाय स्त्रियों और बच्चों की सेवा में समर्पित

स्मारिका 2004 (वार्षिक) सं. खैराती लाल भोला, पतिता उद्धार सभा (पंजीकृत) उपेक्षित एवं असहाय स्त्रियों और बच्चों की सेवा में समर्पित

समाज कल्याण (मासिक) लेख देवदासी समस्या विश्लेशण और निष्कर्ष, रामकुमार, मार्च 2004

संचेतना (वार्षिक), जन. दिस. अंक लेख खूब फल-फूल रही है देवदासी प्रथा और देह व्यापार, योगेन्द्र कुमार

साप्ताहिक हिन्दुस्तान (साप्ताहिक) 20 फरवरी, 1983, लेख नर्क के विषैले दलदल, योगेन्द्र कुमार

सीक्रेट रिपोर्टर, (मासिक), जून 2001, खानदानी वेश्या, कोख का कलंक, मोहन सिंह

सम्यक् भारत, (मासिक) नवम्बर 2004, लेख, के. पी. मौर्य ये बाजार बंद क्यों नहीं होते ?

हंस, (मासिक) सं. राजेन्द्र यादव, जून 2003, समीक्षा महेश दर्पण छोड़ दिए गए विषय पर सोचने को मजबूर करता है सलाम आख़िरी

हिन्दुस्तान टाइम्स (दैनिक), 23 जून, 1999

रिपोर्ट ऑन द शान्ति उत्सव, द सेक्स वर्कर्स मेला आर्गनाइज्ड बाई. डी. एम. एस. सी. इन कोलकाता बिटविन 3 मार्च-9 मार्च, रोशनी बसु रिसर्च एसोसिएट, सेन्टर फॉर फेमिनिस्ट लीगल रिसर्च एसोसिएट, दिल्ली

Jawaharlal Nehru University Library